^dkyk ty* vkj eqfLye lekt dh leL;k,¡

'KALA JAL' AUR MUSLIM SAMAJ KI SAMASYAYEIN

('KALA JAL' AND THE PROBLEMS OF MUSLIM SOCIETY)

ऍम.फिल. (हिंदी) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध–निर्देशक

प्रो. ओमप्रकाश सिंह

शोधर्थी

जितेन्द्र सिंह यादव

Hkkjrh; Hkk"kk oQUæ
Hkk"kk] lkfgR; ,oa laLÑfr vè;;u laLFkku
tokgjyky ug: fo'ofo|ky;]
ubZ fnYyh&110067

(2012)

t okgj yky u:g fo'ofo|ky;
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, India

Dated : .....

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this M.Phil Dissertation/Ph.D. Thesis entitled **'KALA JAL' AUR MUSLIM SAMAJ KI SAMASYAYEIN (" 'KALA JAL' AND THE PROBLEMS OF MUSLIM SOCIETY")** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

JITENDRA SINGH YADAV
(Research Scholar)

PROF. OM PRAKASH SINGH
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. RAM BUX JAT
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

^^x#oj ikiQlj vkeidk'k
flg
dk lknj lefir**

गुलशेर खाँ शानीकृत उपन्यास 'काला जल' मैंने सर्वप्रथम स्नातकोत्तर पाठ्यव्रफम वेफ अंतर्गत पढ़ा था। शर्म और आश्चर्य की बात है कि इससे पहले शानी और उनकी किसी भी कृति का नाम तक नहीं सुना था। इत्तिपफाक से जब भी किसी शोधर्थी छात्रा से यदा–कदा मिलना होता था तो वुफछेक मिनटों वेफ लिए शोध जैसे भारी भरकम कार्य करने की इच्छा अवश्य सव्रिफय हो उठती थीऋ किंतु पिफर यह इच्छा जल्दी ही निष्व्रिफय भी पड़ जाती थी।

स्नातकोत्तर वेफ दौरान कथा साहित्य को लेकर मुझमें रूचि वुफछ गहराती गई। शोध संबंधी मन में दबी इच्छा जब–तब मुझ पर चाबुक चलाती रहती थीऋ किंतु शोध की ए.बी.सी.डी. की समझ वेफ अभाव और चुनौतीपूर्ण कार्य होने वेफ चलते कभी भी मेरे मन में इसको लेकर स्पष्ट खाका नहीं बन पाया।

उस दौरान 'काला जल' को पढ़ते हुए शानी वेफ नाम, संक्षिप्त जीवनवृत्त और उनकी अन्य रचनाओं से जब मेरा वुफछ परिचय हुआ तब मैं थोड़ा बहुत सोचने लगा कि यदि भविष्य में कभी संभव हो पाया तो मैं इन्हीं पर वुफछ कार्य करूँगा। दरअसल, उस समय भारत की मुख्यधरा से कटे जगदलपुर जैसे सुविधहीन परिवेश से उभरकर आना और ना ना चुनौतियों वेफ बावजूद हाशिये पर ही सही पर चुपचाप रचनाकर्म में लगे रहना, इन दो बातों ने मुझे बेहद प्रभावित किया। साथ ही मुझे यह भी लगा कि 'काला जल' मुस्लिम समस्याओं, अन्तर्विरोधें और मुस्लिम जीवन की चुनौतियों को रेखांकित करने वाला किसी भी भारतीय मुस्लिम लेखक का पहला उपन्यास है। इन तमाम मिले–जुले विचारों ने मुझे और भी उकसाया किंतु तस्वीर तब तक भी सापफ नहीं थी।

एम.पिफल. वेफ लिए लघु शोध प्रबंध का प्रारूप तैयार करने वेफ दौरान अपनी इस समस्या को लेकर मैंने जब अपने शोध निर्देशक गुरुवर प्रो. ओमप्रकाश सिंह से बातचीत की तो उन्होंने इस गुत्थी को सुलझाने में भरपूर मदद कीऋ परिणामस्वरूप शोध संबंधी उफहा–पोह से जुड़ी तमाम परतें हटने लगीं और तस्वीर सापफ हुई। मैंने अपना विषय तय किया 'काला जल और

मुस्लिम समाज की समस्याएँ'।

मैंने इस लघु शोध प्रबंध को वुफल तीन अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय, 'स्वाधीन भारत : मुस्लिम समाज और शानी' तीन उप–अध्यायों में बँटा हुआ है। इसवेफ अंतर्गत आ ाद भारत मुस्लिम समाज और उसकी चुनौतियों को यथा–विवेक रूपाकार देने की कोशिश की गई है। इस व्रफम में मुसलमानों में पनपा भय, आशंका, कट्टरता तथा अल्पसंख्यक होने वेफ तीव्र अहसास, तमाम सरकारी रिपोर्टों में दर्ज उनकी बद्तर स्थिति आदि को शामिल कर अध्किाध्कि प्रामाणिक बनाने की कोशिश की गई है। इसी अध्याय में 'शानी का रचना संसार' नामक उप–अध्याय वेफ अंतर्गत शानी वेफ संक्षिप्त जीवन वृत्त तथा उनकी तमाम रचनाओं वेफ परिचय और उनकी संपादकीय दृष्टि वेफ ारिये उनवेफ कृतित्व को समझने का प्रयास भी शामिल है।

द्वितीय अध्याय, 'काला जल में मुस्लिम समाज की समस्याओं का स्वरूप' सात उपशीर्षकों में विभाजित है। इसवेफ अंतर्गत शेष भारत से कटे बस्तर और जगदलपुर में रह रहे मुस्लिम परिवारों वेफ सहारे उपन्यास में मौ ूद समस्याओं की पड़ताल की गई है। इन समस्याओं वेफ बहुस्तरीय स्वरूप को भी समझने का प्रयत्न किया गया है। सामाजिक–राजनीतिक स्थिति, असुरक्षा वेफ भाव से उत्पन्न क्षोभ और वुंफठा, जीवन में निष्प्रिफयता और ठहराव वेफ चलते उत्पन्न सड़ांध अथवा मूल्यहीनता, आस्थाहीनता और निरर्थकता का भाव, 1947 की भारतीय स्वतंत्राता और भारत–पाकिस्तान विभाजन वेफ चलते विस्थापित हो गए लोगों की अपने मित्राों और परिजनों से बिछड़ जाने की पीड़ा, पिछड़ेपन वेफ चलते मुस्लिम–समाज में व्याप्त आडंबर तथा धर्मिक अंधविश्वास जैसी अनेक समस्याओं को इस अध्याय में पिरोने का प्रयास रहा है। कई समस्याओं को शानी वेफ भाषाई तेवर और उनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति वेफ जरिये भी खंगाला गया है।

तृतीय अध्याय 'मुस्लिम समाज की समस्याओं की अभिव्यक्ति में 'काला जल' की सार्थकता' वेफ पहले भाग में 'तमस', 'झूठा सच', आध गाँव' और 'ओस की बूँद' वेफ आधर पर स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास में मुस्लिम जीवन को रेखांकित किया गया है। तत्पश्चात्, दूसरे भाग में कतिपय संक्षेप में मुस्लिम समाज की समस्याओं और उनकी चुनौतियों वेफ संदर्भ में शानी वेफ लेखन और उसवेफ वैशिष्ट्य पर रौशनी डालने की कोशिश की गई है।

सपफलताएँ–असपफलताएँ, विकास और पल्लवन प्रव्रिफया का अनिवार्य हिस्सा होती हैं अतः मुझे यह स्वीकारने में कतई गुरेज नहीं है कि यदि मेरे शोध में कोई त्रुटि अथवा खामी रह गई हो तो यह जीवन में आगे मेरे निर्माण में सहायक सि(होगी। पिफर भी यह सत्य है कि मैंने इस लघु शोध प्रबंध में शानी वेफ कृतित्व को सभी ख़ूबियों वेफ साथ समझने का प्रया किया है।

गौरतलब है कि कोई भी चुनौतिपूर्ण कार्य बिना मार्गदर्शक वेफ पूर्ण नहीं होता। इस लघु–शोध–प्रबंध वेफ निर्माण व लेखन प्रव्रिफया में भी मुझे समय–समय पर गुरुवर प्रो. ओमप्रकाश सिंह का पर्याप्त सहयोग एवं मार्गदर्शन सुलभ होता रहा। अतः मैं उनवेफ प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मित्रा मेरी शक्ति और मेरे जीवन की न चुकने वाली पूँजी हैं। मेरे जीवन में उनका अवदान शब्दातीत और भावातीत है। इस व्रफम में प्रेरणा मित्तल, आशु मिश्र, दिनेश वुफमार सिंह, प्रेमपाल, उनकी अंतरंग सखी मनीषा बड़गूजर, कमलेश मेहरौल आदि वेफ प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अथवा अभाव व्यक्त करना जहाँ एक ओर महज एक औपचारिकता होगी वहीं दूसरी ओर इनका अपमान भी।

अपने इन घनिष्ठ मित्राों वेफ अतिरिक्त एकता जैन वेफ बहुमूल्य योगदान वेफ लिए मैं उन्हें बिल्वुफल भी विस्मृत नहीं करना चाहूँगा जिन्होंने अत्यंत तनाव एवं घबराहट वेफ क्षणों में मेरा न वेफवल भरपूर साथ दिया वरन् कई बार मासिक संबल भी प्रदान किया।

शोध प्रबंध की लेखन प्रव्रिफया में विजय सिंह, राशीद जमाल, आबिद, दुर्गेश आदि का योगदान भी अविस्मरणीय है।

जहाँ तक परिवार जनों का प्रश्न है तो माता–पिता वेफ आशीर्वाद को शब्दों में बाँध्ना असंभव है। उनका कोमल स्नेह मुझे कठिन से कठिनतर परिस्थितियों में भी संघर्षरत रहने वेफ लिए उफर्जा और प्रेरणा प्रदान करता रहा है। छोटे भाई–बहनों का प्यार भी मेरे लिए अनुपम उपहार है।

दिनांक :

f t r Un f l g ;kno

003, कावेरी छात्रावास,
जे.एन.यू., नई दिल्ली

vuqØef.kdk

- *भूमिका* *पअ.अपप*

अध्याय एक

Lok/hu Hkkjr % eqfLye lekt vkj 'kkuh 1&39

- स्वाधीन भारत में मुस्लिम समाज
- मुस्लिम समाज की चुनौतियाँ
- शानी का रचना संसार

अध्याय दो

dkyk ty e qfLye lekt dh leL;kvksa dk Lo:i 40&99

- सामाजिक–राजनीतिक चेतना का अभाव
- असुरक्षाबोध, क्षोभ और वुंफठा
- जीवन में ठहराव की सड़ांध
- आस्थाहीनता और निरर्थकता का भाव
- परिजनों से बिछड़ने की यंत्राणा
- आडंबर और धर्मिक अंधविश्वास
- समस्याओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति

अध्याय तीन

eqfLye lekt dh leL;kvksa dh vfHkO;fDr e
^dkyk ty* dh lkFkdrk 100&119

- स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास में मुस्लिम जीवन ;मुस्लिम तथा गैर मुस्लिम कथाकारों वेफ चुने हुए उपन्यास, झूठा सच–यशपाल, तमस–भीष्म साहनी, आध गाँव–राही मासूम रजा, ओस की बूँद–राही मासूम रजाद्ध
- मुस्लिम समाज की समस्याओं वेफ चित्राण में शानी का वैशिष्ट्य
- *उपसंहार* 120&124
- *संदर्भ ग्रंथ सूची* 125&129
  - *आधर ग्रंथ*
  - *सहायक ग्रंथ*

- *पत्रा–पत्रिकाएँ*

अध्याय-1

स्वाधीन भारत; मुस्लिम समाज और शानी

(क) स्वाधीन भारत में मुस्लिम समाज

सर्वविदित है कि भारतवर्ष की बहुप्रतिक्षित स्वतंत्रता से जुड़ा स्वर्णिम स्वप्न दुर्भाग्यपूर्ण व त्रासजनक विभाजन के साथ पूरा हुआ। दोनों ही देशों (भारत और पाकिस्तान) की निर्दोष जनता इस ऐतिहासिक दुर्घटना के नकारात्मक व दूरगामी परिणाम आज तक भुगतने को अभिशप्त है। यहाँ हम स्वाधीन भारत में मुस्लिम समाज की स्थिति को रेखांकित करने वाले कुछ पहलुओं को संक्षेप में खंगालने का प्रयास करेंगे।

विभाजन ने भारतीय मुस्लिम वर्ग के समक्ष अनेक कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न की। शिक्षित सेवारत अधिकांश मध्यवर्ग तथा उच्चवर्ग भारत छोड़ पाकिस्तान चला गया।[1] शेष रह गये निम्न वर्गीय काश्तकार, मज़दूर तथा कामगार या फिर रह गया ज़मीन से जुड़े उच्च वर्ग का छोटा सा एक अंश। यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि भारतीय मुसलमानों ने पाकिस्तान के पक्ष में जो समर्थन दिया था उसके पीछे मिथ्या प्रचार से उत्पन्न असुरक्षा की भावना थी। मसलन मस्जिदों में गायें बाँधी जायेंगी या उन्हें (मुसलमानों को) हिन्दुओं की तरह चोटी रखनी पड़ेगी, उन्हें अछूत बनाकर रखा जायेगा और उनके जानमाल और इज़्ज़त की हिफाज़त नहीं हो सकेगी, इस तरह के जुमले उनके भीतर पनपने वाले असुरक्षा-बोध के मूल में थे।[2] बँटवारे में घर आँगन के बिखर जाने की स्थिति से उत्पन्न जिस वीरानी, उदासी, उजाड़पन एवं पीड़ादायक स्थिति को प्रस्तुत किया उसकी किसी ने कल्पना तक न की थी। परिवार बँट गये, संबंधों में दूरियाँ आ गईं, दोनों कौमें

भावनात्मक तौर पर लहू-लुहान हो गईं, साम्प्रदायिक दंगों ने पारस्परिक विश्वास और लम्बे समय से चली आ रही बंधुत्व की अवधारणा को क्षत-विक्षत कर दिया।

भावनात्मक पीड़ा के इस दौर से गुज़रते हुए भारतीय मुस्लिम वर्ग के सामने आज़ादी के बाद की स्थिति में परिवर्तन आया। जमींदारी उन्मूलन के कारण ज़मीन से जुड़े वर्ग को कठिनाईयों का सामना करना पड़ा, शिक्षित मध्यवर्ग तो लगभग नदारद ही था। देश में बेरोज़गारी की समस्या तेज़ी से बढ़ रही थी। स्वतंत्रतापूर्व कट्टरपंथी विचारों के चलते मुस्लिम वर्ग के एक बड़े हिस्से ने आधुनिक शिक्षा को अस्वीकार कर दिया था। परिणामस्वरूप वह सामाजिक विकास के क्रम में निरन्तर पिछड़ता जा रहा था। इन सब के साथ ही प्रत्येक समुदाय के आन्तरिक विरोधाभासों के समान इस वर्ग की भी अपनी विशिष्ट समस्याएँ रही जो वर्षों से चली आ रहीं सोच, रुढ़ियों व अन्धविश्वासों का परिणाम हैं।

स्वतंत्रता की लड़ाई एकजुट होकर लड़ने वाले हिन्दू मुस्लिम दोनों वर्गों के सामने आज़ादी के बाद स्थिति भिन्न हो गई, मुस्लिम जनता की राष्ट्रीयता और निष्ठा, सन्देह के घेरे में आ गई, आज भी उसे अविश्वास और शंका के कलंक से पूर्णतः मुक्ति नहीं मिल पायी है। गौरतलब है कि विश्व में धर्म निरपेक्षता का परचम लहराने वाले देश में एक वर्ग विशेष घिनौनी ज्यादती का शिकार है जो उसे भावनात्मक स्तर पर निरंतर ठेस पहुँचा रही है। परिणामस्वरूप असुरक्षा तथा भय का वातावरण उसकी चेतना में घर कर गया, वह मानसिक उद्वेलन में जी रहा है। क्रोध और आक्रोश उसके भीतर उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, दोनों वर्गों के नेताओं व धर्म गुरुओं ने इस भय को कभी समाप्त नहीं होने दिया। 'धर्म संकट में है' का नारा बुलन्द कर कभी तो उन्होंने स्वयं सत्ता के केन्द्र में बने रहने की लालसाओं को पूर्ण किया कभी उसे आशा की स्थिति में डालकर उससे अपने स्वार्थों की सिद्धि की है। असुरक्षा व आशा के बीच छटपटाता अल्पसंख्यक वर्ग मात्र वोट बैंक बनकर रह गया है। धर्म इन नेताओं के लिए अधिकाधिक मुनाफा पाने का

एक धंधा है।

आर्थिक विषमताओं से जूझते हुए, सामाजिक स्तर पर अलगाव बोध से पीड़ित राजनीति के बहुस्तरीय कुचक्रों से शोषित भावनात्मक स्तर पर आहत अल्प संख्यक वर्ग में भय तथा असुरक्षा की अनुभूतियों ने उसे अपने भीतर और अधिक सिमटने पर बाध्य कर दिया है। असुरक्षित व्यक्ति धर्म में सुरक्षा की तलाश करता है, अपनी वर्गीय पहचान को दृढ़ता से हारिल की लकड़ी की तरह पकड़े रहना चाहता है, मुस्लिम साम्प्रदायिकता में मनोविज्ञान की जटिलता का बिन्दु शायद यही है। असुरक्षा अशिक्षित निम्न वर्ग तक ही सीमित नहीं है। वरन इसके दायरे में विशेष रूप से शिक्षित उदारवादी अल्पसंख्यक भी आ गये हैं। मानवता को सबसे बड़ा धर्म मानने वाले व्यक्ति की स्थिति विडंबनापूर्ण और संकटग्रस्त है चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो अपने वर्ग में वह गद्दार व क़ाफ़िर है। दूसरे वर्ग में कट्टर या बाहर का आदमी सम्पूर्ण जीवन मानवीय मूल्यों को सर्वोपरि मानने वाला प्रगतिशील व्यक्ति एकाएक नियमपूर्वक मंदिर अथवा मस्जिद जाने लगता है किन्तु वहाँ की रूढ़ियों व कर्मकाण्डों से जब उसका दम घुटने लगता है तो वह वापस लौटकर स्वयं के कहीं न होने की कुण्ठा में डूब जाता है।

मुस्लिम आक्रामकता शायद उस डरे सहमे हुए असुरक्षित व्यक्ति का अपने बचाव के लिए किया गया प्रत्याक्रमण है जिसे सामाजिक अन्याय, अपमान तथा व्यंग्य के ज़हर बुझे नुकीले अस्त्रों ने भीतर तक ज़ख्मी कर दिया है। अविश्वास की गहरी छाया में अब उसे अपने भीतर बाहर कहीं किसी पर भी विश्वास नहीं रह गया है। उसका आक्रोश समय-समय पर होने वाले इन दंगों और कटु बहसों के रूप में व्यक्त होता है। कई बार अपनी सारी समस्याओं के लिए बहुसंख्यकवर्ग को उत्तरदायी मानकर अपने भीतरी अन्तर्विरोधों तथा कमियों को नकारने की मानसिकता भी इस अल्पसंख्यक वर्ग में देखी जा सकती है। वास्तव में व्यवस्था का कोई धर्म नहीं होता वह राजनीतिक शोषण के ज़रिए अपना काम चलाती है।

1971 ई. के भारत-पाक युद्ध ने धर्म को राष्ट्रीयता का आधार मानने वाले सिद्धान्त को निरर्थक सिद्ध कर दिया है। पाकिस्तान को स्वप्नद्वीप समझने वाले मुस्लिमों के एक वर्ग ने इस कटु सत्य का अनुभव किया है।[3]

(ख) मुस्लिम समाज की चुनौतियाँ

भारत विभाजन के बाद मुसलमानों की भूमिका राष्ट्र में सहज प्रवाह के रूप में बाधित हो चुकी थी। मुस्लिम समाज विभाजन और ज़मींदारी के उन्मूलन से बुरी तरह टूट कर बिखर चुका था। मध्यवर्ग और उच्चवर्ग से जुड़ा ज्यादातर हिस्सा पाकिस्तान जा चुका था। कामगारों का एक बड़ा हिस्सा जो आए दिन फसाद की चपेट में आकर न्यूनतम पारिश्रमिक से भी कम मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर हो जाता था। ऊपर से ये फसाद बँटवारे के आक्रोश के परिणाम माने जाते, मगर हकीकत में यह छोटे स्तर की पूंजीवादी मानसिकता से परिचालित व्यापारियों का एक हिंसक खेल होता। जिसमें राजनेता भी अपनी सियासी रोटी सेकने के लिए सफल भूमिका का निर्वाह करते और उनके आँसू पोंछने निकल जाते थे। इन परेशान हाल लोगों के लिए यही राजनेता जो हिन्दू और मुसलमान होते थे आशा की किरण बनते और इस प्रकार मुस्लिम वोट बैंक की परम्परा भारत में जड़े जमाने लगी जबकि 1947 से पूर्व हिन्दू मुस्लिम वोट तो दूर कुछ भी बंटा हुआ नहीं था।

विभाजन के बाद मुस्लिम समाज को नाना कारणों से अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। उसका खुलासा क्रमशः (1980) में गठित गोपाल सिंह के नेतृत्व में अल्पसंख्यकों की समस्याओं और उनकी वास्तविक स्थिति की पड़ताल के लिए समिति की रिपोर्ट और इसके बाद 'सच्चर आयोग' तथा 'मिश्र आयोग' की रिपोर्टों से होता है।

यहाँ हम 'सच्चर समिति' से प्राप्त आकड़ों का हवाला देकर मुस्लिम वर्ग

के समक्ष खड़ी चुनौतियों का जायज़ा लेने का प्रयास करेंगे। मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक स्तर के अध्ययन के लिए गठित 'सच्चर समिति' की रिपोर्ट में जैसा कि अंदेशा था एकदम वही परिणाम सामने आए हैं। (1980) में डॉ. 'गोपाल सिंह समिति' ने अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जातियों की आर्थिक दशा के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाले थे वे छब्बीस साल के लम्बे अन्तराल के बाद भी अर्थात जब तक 'सच्चर समिति' की रिपोर्ट अन्तिम रूप से तैयार नहीं हो गई, कमोबेश वही स्थितियाँ बरकरार थीं। आज भी मुसलमानों की स्थिति में तिल भर बदलाव नहीं आया है। 'सच्चर समिति' ने मुसलमानों को अन्य पिछड़ा वर्ग में आने वाले हिन्दुओं से भी पिछड़ा बताया है। जहाँ मुसलमानों की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक स्थिति अनुसूचित जातियों और जनजातियों के करीब है। वहीं सरकारी नौकरियों में वे उनसे भी पीछे हैं। रिपार्ट के मुताबिक ''एक समुदाय के रूप में विकास के हर क्षेत्र में व्याहारिक स्तर पर ये पिछड़े और वंचित हैं''। रिपोर्ट में मुसलमानों की सामाजिक स्तर पर खस्ता हालत के जो आंकड़े दिए गए हैं वे काफी निराशाजनक हैं तथा हमारी विकास प्रक्रिया में घर कर गए भारी असंतुलन को दर्शाते हैं। देश में न केवल विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों के बीच बल्कि साम्प्रदायिक स्तर पर भी गहरी खाई मौजूद है। विशेष रूप से शिक्षा, भूमि के स्वामित्व का अधिकार, सरकारी नौकरी, सब्सिडी वाले, सरकारी अनाज में हिस्सेदारी आदि मामलों में उनका पिछड़ापन साफ झलकता है। मुसलमानों की एक बड़ी आबादी आज़ादी के पैंसठ सालों बाद भी गरीबी और जहालत के अंधेरे में जीने को मजबूर है।

रिपोर्ट के आंकड़े सारी तस्वीर को स्वत: ही स्पष्ट कर देते हैं। स्थितियाँ काफी चिंताजनक हैं। बीते तमाम सालों में हमारी सरकारों द्वारा मुसलमानों के प्रति भेदभाव और उपेक्षापूर्ण रवैये से अपने ही देश में हमने एक और शोषित वर्ग पैदा कर लिया है। ''गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले 95 फीसद मुसलमानों को आज भी

मुफ्त और सब्सिडी वाला अनाज नहीं मिलता, देहात में रहने वाले साठ दशमलव दो (60.2) फीसद मुसलमानों के पास ज़मीन का मालिकाना हक नहीं है। और केवल 2.1 फीसद के पास ट्रैक्टर हैं, 1 फीसद के पास अपने नलकूप हैं। वहीं 3. 2 फीसद मुसलमान ही सब्सिडी वाले ऋण से लाभान्वित हो पाते हैं। मुसलमानों को वित्तीय संस्थाओं से औरों की बनिस्पत कम कर्ज़ मिलता है। कर्ज देने में पारदर्शिता नहीं बरती जाती, उन्हें कर्ज देने में आनाकानी की जाती है और यह हालात सभी जगह हैं। जिसकी कोई निगरानी नहीं होती। जहाँ तक सरकारी नौकरियों का सवाल है, मुसलमानों की हिस्सेदारी निम्नतर स्तरों पर भी 6 फीसदी से ज्यादा नहीं हो पाई है।''[4] यूं तो हमारे देश में राष्ट्रपति और सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश मुसलमान हुए हैं लेकिन उच्च प्रशासकीय पदों पर निगाह डालें तो ''मुसलमान बमुश्किल 2 फीसद ही मिलेंगे। IAS में (2.2), IFS में (1.6) तथा IPS में (3.0) फीसद मुसलमान हैं।''[5] मुसलमानों का यही हाल न्यायपालिका में है जहाँ उनकी हिस्सेदारी सिर्फ (7.8) प्रतिशत है।

दरअसल स्वतंत्रता के बाद मुसलमानों के प्रति एक ऐसी अलिखित आचारसंहिता लागू हो गई, जिसमें हमेशा उसे संदेह की नज़र से देखा गया और तमाम सेवाओं से उसे दूर रखने की कोशिश की गई। साक्ष्य बताते हैं कि नेहरू सरकार में ही बड़े पैमाने पर मुसलमानों की सम्पत्ति का हरण किया गया। पाकिस्तान से विस्थापित नेहरू सरकार में मंत्री रहे मिहिर चन्द्र खन्ना ने 'सम्पत्ति निष्क्रान्त' कानून का सहारा लेकर बड़े पैमाने पर मुसलमानों की सम्पत्ति का हरण इस आधार पर किया कि इनके ज्यादातर नजदीकी रिश्तेदार देशांतरित हो गए हैं। नेहरू सरकार में ही मंत्री रहे श्यामाप्रसाद मुखर्जी (जिन्होंने बाद में 'जनसंघ' की स्थापना की) ने अपने गोपनीय द्वारा विभिन्न विभागों में मुसलमानों को उनकी योग्यता के बावजूद नौकरी से वंचित रखा।

मुसलमानों की इस बद्तरीन हालत के बावजूद 1950 की राष्ट्रपति की

उद्घोषणा द्वारा हिन्दुओं में अति पिछड़े दलितों को जिस सूची में शामिल किया गया, 'मुस्लिम दलितों' को उससे वंचित रखा गया।[6] ध्यान देने की बात है कि भारतीय संविधान में धर्म, जाति, वंश, लिंग आदि के आधार पर नागरिकों के प्रति विभेदीकरण के प्रतिरोध का अधिकार मिलता है।[7] इस दृष्टि से देखें तो अति पिछड़े मुसलमानों को दलितों की श्रेणी में शामिल न किया जाना, भारतीय संविधान के अनुच्छेद (14) और (15) की अवहेलना है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नज़र में भी सबसे बड़ा काला कानून है। जिसमें विधि के समक्ष समानता का प्रावधान है।

भ्रम हो सकता है कि मुसलमानों का सम्बन्ध दलितों से जोड़ना यह किसी सिरफिरे दिमाग की उपज है। सैद्धांतिक स्तर पर मुस्लिम समाज में चाहे कोई विभाजन दिखाई न देता हो किन्तु व्यावहारिक स्तर पर ये अपने वर्ग में भी अनेक स्तरों पर बंटे हुए हैं। अशराफ (उच्च) अरजाब (पिछड़े) और अरजाल (अति पिछड़े या दलित) एक उल्लेख में मुस्लिम समाज में ये तीनों तबके मौजूद हैं।[8] किन्तु विडंबना है कि अशराफ यानि मुसलमानों का उच्च तबका इस विभाजन को षडयंत्र के तहत इसीलिए नकारता रहा क्योंकि अजरालों को जरूरत के मुताबिक आरक्षण मिल जाने से उसके हित सीमित हो सकते थे और यह मुसलमानों के यहाँ ही नहीं हर वर्ग में मौजूद सच है कि मुट्ठीभर उच्चवर्गीय लोग अपने हित साधन के चलते अपने से कमज़ोर लोगों को और अधिक कमज़ोर बनाते रहे हैं।

मुसलमानों के मामले में मीडिया का रवैया भी नकारात्मक और भेदभावपूर्ण रहा है। तस्लीमा नसरीन के खिलाफ फतवा, इमरान कांड, हजरत पैगम्बर के कार्टून विवाद, शाहबानो का मामला, अमीना अलशेख की शादी, तीन तलाक का सवाल, एम.एफ हुसैन की पेंटिंग आदि मुद्दों को मीडिया ने कुछ इस तरह से पेश किया कि मुसलमानों का विकृत चेहरा ही नज़र आया।

दरअसल शिक्षा एक बड़ा कारण है। मुसलमानों के पिछड़ेपन के हालात

इतने बदतर हैं कि मुसलमान आधुनिक शिक्षा से अभी तक बहुत कम संख्या में ही जुड़ पाए हैं। धर्म के ठेकेदारों ने छोटी बड़ी मस्जिदों और मदरसों का निर्माण तो करवाया जिससे इमामों की संख्या इतनी बढ़ गई कि इन मस्जिदों के प्रबन्धकों को इनके लिए गुज़ारा भत्ता देना तक मुश्किल हो गया। परिणामस्वरूप आज भी तमाम इमामों को अपनी रोज़ी-रोटी सुरक्षित रखने के लिए बकरी चराने जैसे छोटे-मोटे काम करने पड़ते हैं। मदरसों ने मुस्लिम बच्चों और युवकों को दीनी तालीम (धार्मिक शिक्षा) तो प्रदान की किन्तु वे व्यावसायिक कौशल और आधुनिक शिक्षा से सामंजस्य नहीं बिठा पाए परिणामस्वरूप प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाने के कारण सफल मुस्लिम उम्मीदवारों की संख्या बहुत कम नज़र आती है। मुस्लिमों की कुल जनसंख्या का (49%) हिस्सा शिक्षा से वंचित है। जिसमें बड़ी संख्या महिलाओं की है। लगभग (60.5%) महिलाएँ अशिक्षित हैं। मुस्लिम बच्चों का लगभग (25%) हिस्सा स्कूलों का रूख नहीं कर पाता। दरअसल पारिवारिक निर्धनता के चलते ये बच्चे चाहकर भी स्कूल नहीं जा पाते, परिवार का बोझ कम करने के लिए ये बच्चे बचपन से ही काम में लग जाते हैं और काम भी ऐसा कि इन कामों से बड़ों-बड़ों के होश उड़ जाएं। पारम्परिक कामों, पीतल, तांबा, ताला, काष्ठ, चमड़ा उद्योगों में और हैण्डलूम, साड़ी, कालीन को बुनने में ज्यादातर बच्चे कठिन परिस्थितियों में काम करने को बाध्य हैं। शिक्षा के अभाव में मुस्लिम समाज में चेतना नहीं आ पाई है जिसके कारण वे अपना अच्छा बुरा नहीं समझ पाते। 'मुसलमानों के हालात ठीक उस गौरैया की तरह है जो शीशे में अपना अक्स देखकर चोंच मारती रहती है।'[9] हमेशा शरीअत, तलाक वक्फ सम्पति, बुर्खा-हिजाब आदि गैर जरूरी मुद्दों को तूल देना मुस्लिम समुदायों में अशिक्षा और अज्ञानता का परिचायक है।

मुसलमानों की शिक्षा से जुड़ी 'राजेन्द्र सच्चर समिति' की रिपोर्ट में जो आंकड़े सामने आए हैं वे इस बात की पुष्टि करते हैं। ''सत्तर (70) फीसदी

मुस्लिम बच्चे स्कूलों में दाखिला लेते हैं। लेकिन सेकेण्डरी स्कूल तक आते-आते वे (11-6) फीसद ही रह जाते हैं और केवल (3.5) फीसद ही स्नातक कर पाते हैं जिसके कारण नौकरी के लिए जरूरी न्यूनतम अर्हता प्राप्त नहीं कर पाते।''[10] केरल हमारे देश का वह प्रदेश है जहाँ साक्षरता दर (90%) से अधिक है। बावजूद इसके इस प्रदेश में मुसलमानों की शिक्षा, रोज़गार और नौकरियों की स्थिति की पड़ताल करे तो वहाँ भी उनकी दशा अन्य राज्यों से बेहतर नहीं है। ''यद्यपि केरल में शत प्रतिशत बच्चे प्राथमिक विद्यालयों में प्रवेश लेते हैं लेकिन कॉलेज स्तर तक आते आते छात्रों की संख्या केवल (8%) रह जाती है। ऐसा क्यों होता है? इन कारणों पर गौर करें तो इसकी अहम वजह पढ़े लिखे मुस्लिम नौजवानों को नौकरी न मिल पाना है। केरल में कुछ वर्षों पूर्व तक (55%) मुसलमान बेरोजगार थे, (15%) गरीबी रेखा से नीचे थे, केवल (10%) मुस्लिमों का जीवन स्तर ही बेहतर था। यह स्थिति तब है जबकि केरल में मुसलमानों को एक लम्बे अरसे से नौकरियों में (12%) आरक्षण मिला हुआ है।

अब मैं भारत के एक अपेक्षाकृत पिछड़े हुए राज्य बिहार के मिथिलांचल के आसपास बसने वाले ''पमरिया'' नामक मुस्लिम समुदाय से जुड़े तबके की चुनौतियों और उसकी माली हालत के जरिए संक्षेप में अपनी बात को आगे बढ़ाना चाहूँगा। यह वर्ग बच्चे के जन्म और उससे जुड़े उत्सव पर लोरियाँ और धार्मिक गीत गाकर तथा वहाँ से मिली धनराशि और अनाज आदि से अपना गुज़ारा करता रहा है। इस समुदाय के लोग स्त्री वेश में जाकर गीत गाते और बच्चों को दुआएं देते हैं लेकिन परिवर्तनशील परिस्थितियों से सामंजस्य न बिठा पाने की अक्षमता और गाने बजाने के अलावा अन्य किसी हुनर के अभाव ने इनसे वह छोटा मोटा रोज़गार भी छीन लिया। दरअसल तीव्र गति से परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में कई परम्पराएँ और रूढ़ियाँ क्षीण हुई हैं। बहुत से लोग इनके गाने बजाने को अशुभ मानते हैं। नई पीढ़ी के अभिभावक जन्मोत्सव को पारम्परिक ढंग से इनको बुलाकर

मनाने के स्थान पर नए तरीके से मनाने लगे। लिहाजा यह वर्ग लगातार असुरक्षित होता गया। इनकी संख्या बहुत कम होने के चलते सरकारी रियायतों से भी ये बाहर ही रह गए। अपना पारम्परिक रोज़गार नष्ट हो जाने की वजह से अब ये शहरों की ओर पलायन कर अकुशल मज़दूरों की श्रेणी में आ गए हैं, कुछ लोग बैण्ड पार्टियों में शामिल हो अपना गुज़ारा चला रहे हैं और कुछ लोग किन्नरों के झुण्ड में शामिल हो नाच गा कर अपनी आजीविका चला रहे हैं।[11]

मुस्लिम समाज से जुड़ी अनेक चुनौतियों में एक है 'साम्प्रदायिक हिंसा'। इतिहास गवाह है, कि आज़ादी के बाद देश में जितने साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं, इससे पहले इस पैमाने पर नहीं हुए थे।[12] और बार-बार मुसलमानों को अपने अल्पसंख्यक होने की भारी कीमत चुकानी पड़ी है। कुछ तंग नज़र लोग मदरसों में पढ़ने वाले किशोरो या युवाओं को चरमपंथ या आतंकवाद से जोड़कर देखते हैं। प्राय: यह कहा जाता है कि आतंकवाद का इस्लाम से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि अनेक आतंकवादी संगठन इस्लाम में विश्वास करते हैं। और विश्व के अनेक देशों में पकड़े गए, बहुत से आतंकवादी मुसलमान हैं। यह ठीक है कि कुछ मुसलमान आतंकवादी हैं और कुछ 'इस्लामी संगठन' 'जिहाद' के नाम पर आतंकवाद का प्रचार कर रहे हैं तथा उसे पूरा प्रश्रय दे रहे हैं परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि सभी मुसलमान आतंकवादी हैं और आतंकवादी इस्लाम में विश्वास करते हैं। भारतीय सन्दर्भ में हिन्दू मुस्लिम मुद्दों को आधार बनाकर अपनी हुकूमत और ठेकेदारी चलाने वाले कुछ लोगों द्वारा सम्प्रदाय विशेष को बदनाम करने की तथा सामाजिक स्तर पर एक विभाजन रेखा खींचने की यह नीति ऐसे अनर्गल विचारों का प्रचार-प्रसार करती आई है।

इसके विपरीत वास्तविक स्थिति यह है कि अनेक धर्मों के कुछ थोड़े से लोग दुर्भाग्यवश भ्रमित होकर आतंकवाद के अनुसार आचरण कर रहे हैं। उदाहरणार्थ पिछले कई वर्षों से श्रीलंका में जिन तमिल विरोधियों ने आतंक फैला

रखा था उनमें से अधिकतर हिन्दू थे। यही बात भारत में आतंकवाद फैलाने वाले माओवादियों और नक्सलवादियों के विषय में भी कही जा सकती है। नेपाल में भी कुछ ही समय पहले तक जिन माओवादियों को आतंकवादी माना जाता था उनमें से भी अधिकतर हिन्दू ही थे। लगभग 28 वर्ष पूर्व पंजाब में आतंकवाद फैलानेवाले अधिकतर लोग सिक्ख धर्म में विश्वास करते थे। इसी प्रकार कुछ वर्ष पहले जिस आयरिश रिपब्लिक आर्मी ने इंग्लैण्ड के विरूद्ध भीषण आतंकवाद फैला रखा था उसके लगभग सभी सदस्य इसाई धर्म के अनुयायी थे।

उपरोक्त सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी विशेष धर्म के अनुयायी ही आतंकवादी नहीं होते वास्तव में आतंकवादी का कोई धर्म नहीं होता। क्योंकि वह किसी धर्म के सिद्धान्तों या उपदेशों में विश्वास नहीं करता इसके विपरीत वह अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्दोष लोगों को हताहत और धन सम्पत्ति को नष्ट करके जनता में केवल आतंक फैलाता है जिसकी आज्ञा कोई धर्म नहीं देता और इसीलिए कोई भी धर्म आतंकवाद का समर्थन नहीं करता।

बीते सालों में अपने अंतर्विरोधों और विभाजित मानसिकता को समाज में लहर की तरह फैलाने वाले कुछ लोगों के षड्यंत्र के चलते भारतवर्ष में अल्पसंख्यक वर्ग खास तौर पर मुसलमानों पर जो कहर बरपा हुआ, तरह-तरह की मुसीबतें नाज़िल हुईं या फिर किस तरह यह वर्ग अनेक स्तरों पर नाना चुनौतियों से जूझता रहा इन सब समस्याओं को एक छोटे से अध्याय में पिरोना खासा पेचीदा काम है। दरअसल मुस्लिम समाज से जुड़ा यह मुद्दा मुकम्मल रूप में उठाए जाने के लिए वृहदाकार ग्रंथ की अपेक्षा रखता है। अंत में यह स्वीकार करने में मुझे कतई गुरेज नहीं है कि मैं इस अध्याय के जरिये अपनी सीमाओं के चलते मुस्लिम समाज और उससे जुड़ी चुनौतियों की आधी-अधूरी तस्वीर ही पेश कर पाया हूँ।

(ग) शानी का रचना संसार

रचनाकार शानी

गुलशेर खाँ शानी का जन्म 16 मई 1933 ई. को बस्तर के आदिवासी बहुल पिछड़े इलाके के छोटे से कस्बे जगदलपुर में एक सम्पन्न मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। परिस्थितियों के परिवर्तन ने धीरे-धीरे घर में आर्थिक अभाव का वातावरण उत्पन्न कर दिया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा जगदलपुर में ही हुई। परिवर्तित आर्थिक स्थिति ने उन्हें आगे पढ़ने हेतु इलाहाबाद और काशी की बात तो दूर रायपुर जाने तक की संभावना को भी समाप्त कर दिया। अतः हाईस्कूल में निरीक्षण के लिए आए शिक्षा विभाग के अफसर द्वारा शानी से यह पूछे जाने पर कि बड़े होकर वे क्या बनना चाहेंगे? पर भावी शिक्षा से संबद्ध कोई ठोस रणनीति या योजना के अभाव में शानी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि 'उनकी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है' इस पर वे सहपाठियों के हास्य और ठहाकों के पात्र बने। शानी को यह कचोट निरंतर सालती रही। इस तकलीफ ने संवेदनशील गुलशेर के हृदय में जगह बना ली। शिक्षा संबंधी किसी ठोस योजना के अभाव के बावजूद शानी ने बी.ए. तक की शिक्षा प्राप्त की। उनमें और अधिक न पढ़ पाने की गहरी कचोट थी। प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने विविध विषयों का गहन अध्ययन किया। विशेषरूप से उर्दू शायरी, रूसी साहित्य, अमेरिकी निग्रो साहित्य उनके प्रिय विषय रहे। जगदलपुर से वे ग्वालियर और फिर भोपाल आए उनका अंतिम कार्य क्षेत्र दिल्ली रहा। 10 फरवरी सन् 1995 ई. को उनकी मृत्यु हुई।

शानी की पहली कहानी भैरवप्रसाद गुप्त के संपादन में इलाहाबाद से निकलने वाली प्रसिद्ध पत्रिका 'कहानी' में सन् 1957 ई. में प्रकाशित हुई। उनका प्रारम्भिक कहानी संग्रह 'बबूल की छाँव' सन् 1958 ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें दस कहानियाँ संकलित हैं, इन कहानियों का भौगोलिक परिदृश्य बस्तर का है। परन्तु ये कहानियाँ निम्न मध्यवर्गीय परिवेश की है। शानी ने तकरीबन अस्सी

कहानियाँ लिखीं जो 'सब एक जगह' शीर्षक से दो जिल्दों में सन् 1982 ई. में प्रकाशित हुई। 'जहाँपनाह जंगल' सन् 1984 ई. में प्रकाशित कहानी संग्रह है। इस संग्रह की कहानियाँ दिल्ली प्रवास के दौरान लिखी गईं। इनमें महानगरीय जीवन खण्डों की अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति है। शानी की कहानियाँ बस्तर के आँचलिक प्रदेश में आदिवासी जीवन से लेकर महानगरीय जीवन के विविध रूपों को अपने समस्त रंगों के साथ समेटती है। स्वयं मुस्लिम समाज का अंग तथा एक संवेदनशील एवं सचेत रचनाकार होने के नाते उनकी अधिकांश कहानियाँ निम्नमध्यवर्गीय मुस्लिम जीवन को माध्यम बनाती हैं। इनका महत्व एक वर्ग विशेष या अंचल से जुड़े होने के कारण नहीं अपितु रचनाकार के गहरे सामाजिक सरोकारों से है।

सन् 1961 में प्रकाशित 'कस्तूरी' उनका प्रथम उपन्यास है जो सन् 1983 ई. में किंचित परिवर्तन के साथ 'सांप ओर सीढ़ी' नाम से प्रकाशित हुआ। सन् 1964 में प्रकाशित 'पत्थरों में बंद आवाज' का सन् 1973 ई. में एक 'लड़की की डायरी' के रूप में पुनर्लेखन हुआ। सन् 1965 ई. में प्रसिद्ध उपन्यास 'काला जल' का प्रकाशन हुआ। इस उपन्यास का लेखन सन् 1960 तक पूर्ण हो चुका था। किन्तु शानी के पास इस उपन्यास को प्रकाशित कराने के लिए अपेक्षित चतुराईयों का सिरे से अभाव होने के कारण उनका यह सशक्त उपन्यास पाँच वर्षों तक प्रकाशकों के ठण्डे बस्ते में पड़ा रहा। अंतत: सन् 1965 ई. में राजेन्द्र यादव द्वारा स्थापित 'अक्षर प्रकाशन' से इस उपन्यास का प्रकाशन संभव हो पाया। सन् 1970 में प्रकाशित 'नदी और सीपियाँ' उपन्यास किंचित-परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ सन् 1980 में 'फूल तोड़ना मना है' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। शानी के उपन्यासों में बस्तर के नैसर्गिक प्राकृतिक परिवेश का अत्यंत आत्मीयता एवं संवेदना के साथ अंकन हुआ है। 'सांप और सीढ़ी' में बस्तर के सीमावर्ती गाँव 'कस्तूरी' की कथा है। इसमें संक्रमण कालीन बस्तर का यथार्थ चित्रण है। 'काला जल' शानी की

औपन्यासिक यात्रा की उपलब्धि का प्रतीक है। इसमें शानी के अपने जीवन की अनुगूँजे भी सुनी जा सकती हैं। इसका अनुवाद रूसी भाषा में भी हुआ है।

शानी ने अपना कुछ समय बस्तर के दुर्गम क्षेत्र अबूझमाड़ में अपने समाजशास्त्री मित्र, एडवर्ड जे.जे. के साथ व्यतीत किया तथा बस्तर के जीवन को विषय बनाते हुए 'शालवनों का द्वीप' रचा है। 'एक शहर में सपने बिकते हैं', उनकी महत्त्वपूर्ण लेखमाला है। हिन्दी की दो प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं की स्थापना एवं संपादन का श्रेय शानी को जाता है। शानी मध्यप्रदेश साहित्य परिषद की पत्रिका 'साक्षात्कार' (त्रैमासिक) 1974 ई. के संस्थापक संपादक बने। उन्होंने साहित्य अकादमी की पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' के प्रवेशांक जुलाई-सितम्बर (1980) से अप्रैल-जून (1991) तक के अंकों का सफल संपादन किया। अपनी कुशल संपादन दृष्टि के ज़रिये उन्होंने अत्यंत पारदर्शिता, सुरुचि एवं साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है। सन् 1970 ई. में वे 'नवभारत टाइम्स' के 'रविवार वार्ता' का कार्य देखने लगे। सन् 1992 ई. में 'नवभारत टाइम्स' के लोकप्रिय साप्ताहिक स्तम्भ 'इसी बहाने' में उनका लेखन, उनके व्यापक अध्ययन व सामायिक विषयों पर गंभीर चिंतन व भाषा के लिए याद किया जाता रहेगा। सन् 1994 ई. मार्च में बहुत दिनों से रुकी पड़ी पत्रिका 'कहानी' का सरस्वती प्रेस से शानी के सम्पादन में पुनरारम्भ संभव हुआ। 'कहानी' के प्रबंधन तंत्र ने शानी के साथ जो बदसलूकी की वह बेहद शर्मनाक स्थिति की परिचायक है।

उनकी रचनाएँ अनेक भारतीय भाषाओं के अलावा रुसी व चेक भाषाओं में भी अनुदित हुई। शानी उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत होने के साथ ही मध्यप्रदेश शिखर सम्मान से भी नवाजे गए। वे 'मध्यप्रदेश साहित्य परिषद' (भोपाल) के भी सचिव रहे।

बस्तर के घने जंगलों में फैली, अनछुई, मनोहारी प्राकृतिक छवियों से शानी की चेतना ने सौन्दर्य ग्रहण किया। अल्पसंख्यक होने का तीव्र अहसास भौगोलिक

दृष्टि से पूरे देश से कटे हुए जगदलपुर के सुविधाहीन परिवेश, अवसरों की कमी तथा निम्नमध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक विषमताएँ, इन सब ने मिलकर शानी के व्यक्तित्व में एक ओर बेचैनी, अस्थिरता, आक्रोश, आक्रामकता, उत्पन्न की तो दूसरी ओर जगदलपुर के सादे, निश्छल तथा आत्मीय परिवेश ने मनुष्य मात्र के प्रति गहरी संवेदनशीलता प्रदान की। 'शानी' (अरबी भाषा में जिसका अर्थ 'दुश्मन' होता है) यह शब्द एक विशेष समुदाय द्वारा अपने ऊपर रुढ़ पहचान थोपे जाने के अस्वीकार का प्रतीक है। जिन्दगी में चतुराई युक्त व्यावहारिकता से अछूते शानी अपनी साफ़गोई व बेबाकी के कारण अनेक कड़वे-कसैले अनुभवों से गुजरते रहे। जीवनपर्यंत उनका समस्त आग्रह आदमी को केवल इनसान बने रहने देने का रहा।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में शानी का स्थान केन्द्रिय तो नहीं किन्तु चर्चित अवश्य है। 'काला जल' उनके उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है जिसका प्रकाशन सन् 1965 ई. में हुआ। इससे पूर्व उनके दो उपन्यास 'कस्तूरी' व 'पत्थरों में बंद आवाज' प्रकाशित हो चुके थे। राजेन्द्र यादव के शब्दों में ''काला जल शानी का कीर्तिस्तम्भ भी है और समाधि-लेख भी।''[13] हिन्दी कथा जगत को 'काला जल' सरीखी अद्वितीय रचना तथा कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ देने के बावजूद स्वातंत्रोत्तर हिन्दी कथाकारों में शानी को जो स्थान मिलना चाहिए था वे उससे महरूम रहे। एक रचनाकार के हाशिए पर चले जाने का कारण यदि उसकी लेखकीय अक्षमता हो तो बात समझ में आती है किन्तु शानी के पास ऐसी बहुत सी चालाकियों, दाव-पेंचों तथा इस तरह की दूसरी ज़रूरी योग्यताओं का सिरे से अभाव था, जो भले ही शुद्ध लेखक कर्म या लेखकीय दायित्व से इतर हो किन्तु सर्वत्र व्याप्त विसंगतियों के इस दौर में एक सफल लेखक के लिए बेहद ज़रूरी है।

शानी के सभी उपन्यासों की एक महत्वपूर्ण विशेषता बस्तर के प्राकृतिक परिवेश का आत्मीय संवेदनशील अंकन हैं। आँचलिक उपन्यासकारों के समान शानी

अपने परिवेश के प्रति अत्यंत सजग हैं तथा अपने अंचल के प्राकृतिक सौन्दर्य से उन्हें गहरा रागात्मक लगाव है। किन्तु अन्य उपन्यासकारों की भांति 'प्रोपेगेंडा' के तहत आंचलिकता पर कब्ज़ा जमाना उनका लक्ष्य नहीं अपितु सूक्ष्म मनःस्थितियों एवं जटिल संबंधों के चित्रण द्वारा विशिष्ट जीवन की धड़कनों को पहचान देना उनका उद्देश्य है। वास्तव में शानी की आँचलिकता बस्तर की प्रकृति के अंकन तक सीमित है। शानी ने जब लेखन आरम्भ किया था तब 'मैला आँचल' के कारण आँचलिकता की धूम मची हुई थी और अनेक लेखक आँचलिकता की इस नाव पर सवार होकर अपनी रचना यात्रा सफल करने की होड़ में लगे हुए थे। परन्तु शानी इस सब से निस्संग बस्तर के आदिवासी पिछड़े प्रदेश को मौन रहकर अपनी कहानियों का विषय बनाते रहे।

कस्तूरी

उनका प्रथम उपन्यास 'कस्तूरी' कालान्तर में कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ 'साँप और सीढ़ी' के नाम से प्रकाशित हुआ। बस्तर के आदिवासी प्रदेश की 'हलपा जाति' की आदिवासी स्त्री धान माँ को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में धान माँ के माध्यम से औद्योगिकरण की चपेट में आए कस्तूरी गाँव के जीवन के बदलते स्वरूप को रेखांकित किया गया है। यह औद्योगीकरण 'साँप और सीढ़ी' के खेल के समान जीवन में विनाश और विकास की स्थितियों का रेखांकन करता है। 'कस्तूरी' गाँव में उसका हस्तक्षेप पूरे गाँव की चेतना के राग में विवादी स्वर की भूमिका का निर्वाह कर रहा है। वह धीमी गति से चल रही जीवन पद्धति एवं मूल्यों पर चोट कर रहा है, समीप की चट्टानों में हुआ प्रथम विस्फोट जैसे गाँव के जीवन में हुए विस्फोट का प्रतीक है, शहर से आनेवाले घरघराते ट्रकों का शोर, चौंधियाने वाली तीखी रौशनियाँ और अजनबी चेहरों का इस जीवन में प्रवेश, बस्तर की अनछुई अक्षत नैसर्गिकता को मैला कर रहा है। परिणामतः जीवन मूल्यों का संकट उपस्थित हो गया। प्राकृतिक सौन्दर्य व

संपदा से हरा-भरा, अपने में संतुष्ट, सुखी और स्वतंत्र जीवन औद्योगीकरण के कारण बड़े परिदृश्य का हिस्सा बनकर अपने लोगों समेत नकारात्मक परिवर्तन के संकट से जूझ रहा है। अर्थात् अपनी प्राकृतिक पहचान खोकर 'कुछ नहीं' में बदलता जा रहा है। वहाँ एक बड़ा खेल शुरु हो गया है जिसमें पुरानी जीवन पद्धति सिकुड़ रही है। उसके रूप रंग उजड़ रहे हैं। शेष रह गया है अनचाहा अकेलापन। संक्षेप में यही 'साँप और सीढ़ी' का कथ्य है।

इस उपन्यास की भूमिका में शानी इतिहास की तीव्र गति में अनुभूतियों के आहत होने का संकेत करते हैं, ''इतिहास चक्र बेहद क्रूर होता है- साँप सीढ़ी के खेल की तरह रोचक ही नहीं, निर्मम भी। व्यक्ति हो या समाज, देश हो या संसार, जाति हो या धर्म, भाषा हो या संस्कृति, इतिहास किसी को कभी नहीं छोड़ता। इसका चक्र प्रत्येक को उसकी जगह से धकेल कर निरंतर कहीं से कहीं करता रहता है।''[14]

नदी और सीपियाँ

'नदी और सीपियाँ' उपन्यास बस्तर के सघन और बीहड़ आदिवासी क्षेत्र अबूझमाड़ के प्राकृतिक परिवेश में एक युगल स्वर्णा तथा हेमंत की कथा है जो परस्पर भ्रम तथा वास्तविकता की स्थिति में एक साथ जी रहे हैं। यथार्थ का एक रूप मनोहारी है तो दूसरा कुरूप भी। वे एक-दूसरे को चाहते हैं और कहीं एक-दूसरे से बहुत दूर भी हैं। कथा नायक हेमंत के शब्दों में गोया उपन्यास की मूल चेतना ध्वनित हो उठती है। ''प्रेम का मूल अधिकार निश्चय ही भ्रम है। तुम तट पर सैकड़ों हजारों बंद सीपियों से घिरी घंटों मत्र-मुग्ध बैठी रह सकती हो। उन्हें आँचल में समेटकर तुम्हें अजहद खुशी भी हो सकती है लेकिन किसी एक भी खुली सीपी के आगे तुम दो घड़ी से ज्यादा नहीं ठहर सकती। क्या यह अचरज की बात नहीं है कि खुली सीपी हमें बाँध नहीं पाती। मुँह बंद सीपियों के संग-संग चलने वाला भ्रम ही हमें बांधता है भले ही उसकी कोई ठोस बुनियाद हो

या न हो।''[15] उपन्यास का आग्रह वास्तविकता की कठोर भूमि पर जीवन के सहज स्वीकार का है। वैसे भी शानी की रचनाओं में प्रेम संबंध रोमानी या रेशमी अहसासों के चित्रण के स्थान पर उनका संयत और तटस्थ अंकन है। एक स्तर पर यह पुरुष और स्त्री संबंध में परंपरागत प्रतिमानों की ठेस से आहत स्त्री मन की संवेदनाओं का उपन्यास भी है।

नदी और सीपियों का वैशिष्ट्य बस्तर की मनोहारी प्राकृतिक छवियों को उकेरने में है। रचनाकार की चेतना मानो अबूझमाड़ के रहस्यमय सौन्दर्य से आविष्ट है। ''सामने गूलर की टहनियों के बीच ढेर बनरागियों का शोर उठ रहा था। पंडुकी ने अपनी टेक पकड़ ली थी। एक जंगली फलों वाले पेड़ से हरियल उड़ा था और युगों का किलकारियाँ भरता हुआ एक झुण्ड अभी-अभी गूलर पर आ उतरा था।''[16] अनेक पक्षियों के नाम, उनके रंग, स्वर, स्वरों की भीतरी संवेदना, पेड़-पौधों और मौसम के साथ उनके बदलते रंग-रूप, पत्तों की खड़खड़ाहट तथा धुंधलके और रोशनी का खेल, इन सब से रचा हुआ उनका अस्तित्व, उपन्यासकार मानो प्रकृति रस में तूलिका डुबो कर चित्र बना रहा है।

एक लड़की की डायरी

त्यागपत्र के रचयिता जैनेन्द्र के समान शानी ने इस उपन्यास की भूमिका में इसे किसी युवा लड़की की डायरी को इस उपन्यास के आधार रूप में माना है। उपन्यास एक प्रौढ़ा तथा वय-संधि की दहलीज पर खड़ी एक किशोरी की कथा है जो अपनी जिन्दगी की कशमकश में अपने अस्तित्व को समझने व बचाने के प्रयासों में एक के बाद एक छलावे में फंसती जाती है। उपन्यास में बाह्य परिस्थियों व परिवेशगत क्रूरता के बीच मन की कोमल प्यास और अतृप्ति के स्वरों को प्राथमिकता मिली है। उपन्यासकार ने एक प्रश्न उठाया है ''आखिर वह कौन सी चीज है जो आदमी को केवल भटकाया करती है, जन्म से लेकर मरण तक इस अन्यक्त या अनाम वस्तु की खोज अनवरत चलती रहती है? क्या उसे हम कभी

पकड़ नहीं पाते?''[17] उपन्यास के अंत तक आते-आते उस लड़की को अपने भीतर पत्थरों में बंद झरने की आवाज़ सुनाई देनी आरम्भ हो जाती है एक भ्रम के टूटने के दुखदाई अनुभव के बाद वह दृढ़ निश्चय कर लेती है ''अब और नहीं, चाहे जो हो'' इस उपन्यास का वैशिष्ट्य क्रूर परिस्थितियों को तोड़कर भ्रम से बाहर निकलने की संघर्षशील मानसिकता के अंकन में है।

आकार में उपरोक्त तीनों उपन्यास लघु कलेवर के हैं फलक की दृष्टि से इनमें 'काला जल' का सा बहुस्तरीय चित्रण शिल्प की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य नहीं है किन्तु संवेदना की आत्मीयता, ईमानदारी तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से 'काला जल' से कतई पीछे नहीं हैं।

काला जल

'काला जल' सन् 1965 में प्रकाशित शानी का महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह बस्तर के पिछड़े हुए आदिवासी बहुल क्षेत्र के दो मुस्लिम परिवारों की तीन पीढ़ियों की कहानी है जो सन् 1910 ई. के आसपास से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के कुछ वर्षों के कालखण्ड को समेटे हुए है। शानी ने स्वतंत्र्योत्तर कथा साहित्य में मुस्लिम जीवन के चित्रण के अभाव को लेकर प्रश्न उठाए हैं। उनका जन्म मुस्लिम परिवार में हुआ था। गहरी संवेदनशीलता के कारण इस जीवन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति उनके उपन्यास 'काला जल' में हुई है। 'काला जल' को निम्नमध्यवर्गीय मुस्लिम समाज का प्रामाणिक दस्तावेज़ कहा जा सकता है। इस उपन्यास में मुस्लिम समाज अपनी विषमताओं और विवशताओं, आशा-आकांक्षाओं, जीवन-पद्धति, संस्कारों, लाचारी तथा विडंबनाओं के साथ प्रस्तुत है।

'काला जल' की कथा आत्मकथात्मक शैली में स्मृतियों एवं पूर्वदीप्ति के सहारे विकसित होती है। सम्पूर्ण कथा तीन खण्डों में विभक्त है। मोहसिन की अनुपस्थिति के कारण कथावाचक बब्बन फूफी के यहाँ शब-ए-बरात को फातिहा

पढ़ने जाता है और एक के बाद एक मृत व्यक्तियों की फेहरिस्त में पहला नाम करामत बेग का। मिर्जा बस्तर आए तो पुलिस के दरोगा थे। उपन्यास में लिखा है, ''रियासत का दौर था और सस्ते का जमाना था। चावल रुपये का एक मन, गेहूँ डेढ़ मन और घी दस सेर मिलता। मुर्ग-बत्तखों या हलाल जानवरों के लिए पैसे खर्च करने की भी जरूरत नहीं पड़ती थी।''[18] मिर्जा बस्तर की प्रकृति में इतना रम गए कि तबादला होने पर नौकरी छोड़ दी और यहीं रह गए। बिट्टी खताइन से उनका प्रेम हुआ था अतः बाद में मौलवियों के दबाव के चलते निकाह से पहले बिट्टी को अपना धर्म छोड़ इस्लाम धर्म ग्रहण करना पड़ा और उसे इस्लाम बी नाम दिया गया। किन्तु सब उसे अंत तक बीदारोगिन कहकर पुकारते रहे। मिर्जा को मुस्लिम समाज से सम्मान पाने के लिए कुलीन घर की मुस्लिम लड़की से दूसरा निकाह करना पड़ा।

असुरक्षाबोध एवं अधिकार भाव के चलते बीदारोगिन ने नयी पत्नी को पत्नीत्व के सहज अधिकार से भी वंचित रखा और अनेक प्रकार से यातनाएँ दी। नई दुल्हन के घर में पैर रखते ही बीदारोगिन ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम रोशनबेग रखा गया। मिर्जा करामत बेग की मृत्यु के चालीसवें दिन 'चहल्लुम' के बाद विलासपुर वाली दुल्हन सदा के लिए अपने घर वापस चली गई। बीदारोगिन ने मांगे जाने पर भी अंत तक उसके जेवर नहीं दिये, कुछ समय बाद दूर के एक रिश्तेदार रज्जू मियाँ का इस घर में आना-जाना आरम्भ हो गया। चार-पाँच वर्षों तक सबकुछ इसी तरह से चलते रहने के बाद रज्जू मियां ने बीदारोगिन से निकाह कर लिया और इस परिवार का दायित्व संभाला। बालक रोशनबेग आरम्भ से रज्जू मियाँ के लिए बीदारोगिन तक पहुँचने का माध्यम मात्र था। इस निकाह के कारण अब बारह वर्ष के किशोर के रूप में उसका व्यक्तित्व कुण्ठित व व्यवहार कटु होता चला गया। तनावपूर्ण वातावरण से दूर रखने के लिए उसे हॉस्टल में डाल दिया गया। उपन्यासकार ने इस पृष्ठभूमि के साथ अंग्रेजी

शासन के विरुद्ध सन् 1910 के आदिवासी विद्रोह की घटनाओं का वर्णन भी किया है। स्थितियों को देखते हुए रौशन बेग के निकाह का निर्णय किया गया। रज्जू मियाँ की दृष्टि रियासत के दरबारी मुख्तार अली अमीर की सुन्दर बेटी पर थी। लम्बे मान मनुव्वल के बाद अमीर अली की पन्द्रह वर्षीय लाडली बेटी से रोशन का विवाह हो गया। यह छोटी फूफी थी।

रज्जो मियाँ की कुण्ठित कामवृत्ति के कारण फूफी के प्रति उनकी कूटदृष्टि एवं कुचेष्टाओं ने फूफी के लिए भय एवं आशंका का वातावरण उत्पन्न कर दिया। रोशन बेग के रुखे, कसैले, तुनकमिजाजी एवं स्वकेन्द्रित व्यक्तित्व ने फूफी के तनाव एवं मानसिक क्लेश को अधिक यातनादायक बना दिया। बीदारोगिन का असामान्य अनुशासन तथा त्रासदायक व्यवहार, ज़ाहिरा भाभी द्वारा फूफी के तनाव को निकास देने के छिटपुट प्रयत्न और रशीदा का अपने सगे चाचा द्वारा यौन शोषण, गाँव से अनाथ मालती को बुलाया जाना और रज्जू मियाँ की कामभावना की शिकार मालती की बेबसी आदि का चित्रण उपन्यासकार ने संकेतों में किया है। रोशनबेग की मृत्यु के बाद रज्जू मियाँ ने अंत में फूफी को दुनिया भर में बदनाम करते हुए बीमारी के कारण अपने अंतिम दिन अस्पताल में काटे, वहीं उनकी मृत्यु हुई। यहीं पर उपन्यास का पहला खण्ड 'अलफातिहा लौटती हुई लहरें' समाप्त होता है।

उपन्यास में दूसरे खण्ड 'भटकाव : दिखाएं चूमती स्त्रोतस्विनी' का आरम्भ इस रहस्योद्घाटन से हुआ कि मोहसिन और बब्बन दोनों भाई हैं। बब्बन के पिता के दूसरी स्त्री से संबंधों के कारण दोनों परिवारों के बीच हुई अनबन की पृष्ठभूमि में मोहसिन से दोस्ती के कारण बब्बन का फूफी के परिवार में प्रवेश चित्रित हुआ है। अपने परिवार की तंगहाली व अम्मी तथा अब्बा में लगातार पैदा होती जाने वाली कटु स्थितियों के बीच कथावाचक बब्बन फूफी की बड़ी बेटी सानिहा यानि सल्लो आपा से जुड़ता चला गया। सल्लो आपा के प्रति उसका आकर्षण एक

किशोर मानस का विपरीत लिंग के प्रति सहज आकर्षण है। इस अनाम आकर्षण को वह स्वयं भी नहीं जानता, यहाँ पर बब्बन द्वारा अपने व्यक्तित्व के विश्लेषण और मोहसिन के हिंस्र व आक्रामक व्यक्तित्व द्वारा निरंतर आंतरिक होते रहने और अपनी स्वाभाविक भीरुता से मुक्ति के कैशोर्य सुलभ प्रयासों का वर्णन है। इसी क्रम में स्वाधीनता आंदोलन के उभार संबंधी सूत्रों के विस्तार, नायडू के प्रयत्नों से मोहसिन का इनसे जुड़ना व किशोर बब्बन का इससे इन सबका परिचय पाकर उत्तेजित आतंकित होना वर्णित है। स्वाधीनता की चेतना की जागृति के परिणामस्वरूप स्कूल में मोहसिन के दल के छात्रों द्वारा यूनियन जैक को सलामी देने से इन्कार करना, दण्ड पाना, फ्लैग पोस्ट को जलाकर अपने क्रोध को अभिव्यकत करना आदि घटनाओं के विपरीत मोहसिन को स्कूल से निकाले जाने के स्वरूप में होते हैं। सरकारी नौकरी में होने के कारण मोहसिन के इस कृत्य पर रोशन बेग का भयंकर क्रोध ओर मोहसिन की बेरहम पिटायी व कोड़ा गाँव हॉस्टल भेज दिये जाने की घटना से बब्बन के फूफी के परिवार से सम्पूर्ण का सम्पूर्ण बदलाव सल्लो आपा हो जाती है। इधर बब्बन के परिवार में पिता की दायित्वहीनता के कारण आये आर्थिक संकट के परिणामस्वरूप पुश्तैनी मकान बिक जाता है। बब्बन के परिवार द्वारा निम्नवर्गीय मोहल्ले के बीच जाकर रहने की बाध्यता व तद्जनित कुण्ठा व घुटन का चित्रण है। सल्लो आपा का अप्रत्याशित लगने वाला रहस्यपूर्ण व्यवहार व छिपकर पुरुष वेश में घूमना, किसी परपुरुष से सम्पर्क आदि के संकेतों के साथ सल्लो आपा के प्रति बब्बन का आकर्षण गहराते जाने को चित्रित किया है। मुर्दा जगदलपुर में स्वातंत्र चेतना जगाने में विफल होने में नायडू का पागलपन और कथावाचक बब्बन के पिता का तबादला हो जाने पर दंतेवाड़ा जाने की घटनाएँ, अधिकांश संपर्क सूत्रों को तोड़ देती है। यही पर दूसरे खण्ड की समाप्ति होती है।

तीसरे और अंतिम खण्ड 'ठहराव', में दंतेवाड़ा पहुँचने के कुछ ही दिन बाद

सल्लो आपा की अप्रत्याशित मृत्यु की सूचना मिलती है जो बब्बन के लिए फातिहा पढ़ते समय तक रहस्य ही बनी रहती है। रोशन फूफा की मृत्यु के बाद छोटी फूफी के परिवार को आर्थिक रूप से कष्टप्रद दिन व्यतीत करने पड़ते हैं। बीच में ही पढ़ाई छोड़कर मोहसिन को वापस लौटकर जगदलपुर में छोटी मोटी नौकरी करनी पड़ती है। सात-आठ साल बाद कथावाचक बब्बन की भेंट अचानक मोहसिन से हो जाती है तब तक परिस्थितियाँ और अधिक आढ़े टेढे मोड़ ले चुकी होती है। देश आजाद हो चुका है सत्ता के मोह में डूबे राजनेता अपने त्याग को चेक की तरह भुना रहे हैं। गांधी टोपी पहनकर अवसरवादी अंग्रेजपरस्त देशभक्तों में शुमार हो गये हैं। मोहसिन स्वातंत्र्योत्तर कालीन भारत के इस घिनौने यथार्थ से क्षुब्ध है। अपने अल्पसंख्यक होने के कारण अरक्षित होने तथा हर जगह से निकाले जाने का तीव्र बोध मोहसिन को कुण्ठित कर देता है। मोहसिन पाकिस्तान की कल्पना स्वप्न दीप के रूप में करता है और भारत छोड़कर पाकिस्तान जाने की इच्छा व्यक्त करता है। अंत में फातिहा की रस्म अदायगी के समाप्त होने के बाद बेहतर थके हुए कथावाचक बब्बन को ताजा हवा की ज़रूरत बड़ी शिद्दत से महसूस हो रही है परन्तु मोती तालाब के काले जल की बिसयाद उसका पीछा नहीं छोड़ती। यही उपन्यास का अंत है।

शानी की कहानियाँ

हिन्दी साहित्य में शानी के नाम से विख्यात गुलशेर खाँ शानी ने लगभग एक दर्जन (भाग एक और दो को मिलाकर) कहानी संग्रह पाठक वर्ग को सौंपे जिनपर विस्तार से चर्चा की गुंजाइश न होने के कारण नामों का उल्लेख कर ही मुझे छोड़ना पड़ रहा है। 'बबूल की छाँव' (1958), 'डाली नहीं फूलती' (1960), 'छोटे घेरे का विद्रोह' (1964), 'युद्ध' (1973), 'शर्त का क्या हुआ' (1975), 'एक से मकानों का नगर' (1976), 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (1976), 'सड़क पार करते हुए' (1979), 'जहाँपनाह जंगल' (1984), 'प्रतिनिधि

कहानियाँ' (1985), 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' (1997)

मैं यहाँ शानी की 65 से भी अधिक पढ़ी हुई कहानियों में से कुछ कहानियों को लेकर अपनी बात रखने की कोशिश करूँगा।

जीवन से जुड़ा जटिल से जटिलतर व्यापार और यथार्थ भी शानी की पैनी दृष्टि से बच नहीं पाया है। यद्यपि तिल जैसे यथार्थ को ताड़ बनाकर प्रस्तुत करने से रचनात्मक मनोरोग से वे ग्रस्त नहीं रहे किन्तु उस यथार्थ को उनके खोजी लेखक ने पकड़ अवश्य लिया है। बोलने वाले जानवर आदिवासी जीवन को आधार बनाकर शानी द्वारा रचित इस कहानी में हमें इस घिनौने यथार्थ के दर्शन हो जाते हैं जिसकी कल्पना हम सुसंस्कृत समाज में नहीं कर सकते लेकिन विडंबना पूर्ण और सामाजिक स्थिति यह है कि इस कहानी में चित्रित तथाकथित सभ्य समाज से बाबस्ता, विदेशी दम्पति को सुअर और कुत्तों की विलायती नस्ल के बच्चों से बेहद मोह है लेकिन यही लोग आदिवासियों और उनके बच्चों को अपमान और घृणा की नजर नजर से देखते हैं 'शानी' बड़े कौशल के साथ शिक्षित समाज के अंतर्विरोध को उजागर कर देते हैं।

कोई भी समझदार आदमी इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ सकता कि गाहे-बगाहें मुस्लिम जनता की राष्ट्रीयता संदेह के घेरे में रही है और वक्त-बेवक्त उनसे ईमानदारी का प्रमाण माँगा भी जाता रहा है। पूरी निष्ठा और ईमानदारी के बावजूद एक विशिष्ट मानस से परिचालित लोग उनके वजूद को ठेस पहुँचाते रहे हैं। ''मेरी ट्रेजिडी यह थी कि युद्ध ने मुझे खामोश और उदास कर रखा था, न तो मेरे मन में तमाशबीनों जैसा जोश और उत्साह था और न युद्ध में रस लेने वाली मूर्खता। अगर यह सब न होता और मेरी जेब में उफनती हुई राष्ट्रीयता और देश-प्रेम का झुनझुना होता तो भी काफी होता लेकिन बदकिस्मती से वह भी नहीं था। अगर आप भारतीय मुसलमान है और चाहते हैं कि आपकी बुनियादी ईमानदारी पर शक न किया जाए तो यह झुनझुना बहुत जरूरी है।''[19]

'एक कमरे का घर', 'युद्ध', 'ज़नाजा' इन तीनों ही कहानियों में 'शानी' के उपरोक्त अनुभव छनकर आए हैं। 'एक कमरे का घर' के पात्र एहसान को उसका परिचित जता देता है कि मुसलमान होने की वजह से तुम अपनी योग्यता और क्षमता के बावजूद भी जरूरी मुकाम पर नहीं पहुँच पा रहे हो। यद्यपि पूरी कहानी में कहीं भी स्पष्ट रूप से इस शब्द का इस्तेमाल नहीं है इसके बावजूद बड़ी बारीकी से शानी ने इस समस्या को उठाया है।

आजादी के बाद तेजी से एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो हिन्दु अथवा मुस्लिम मुद्दों पर अचूक अवसरवाद का सहारा लेता है। 'युद्ध', 'जनाजा' दोनों कहानियों में चित्रित कुरैशी सरीखे छद्म व्यवहार कुशल लोग अवसरवाद के सहारे ही खुद को सुरक्षित और खुशहाल बनाए हुए हैं। 'रिजवी' जैसे निष्ठावान और ईमानदार लोग प्रदर्शनवाद (झुनझुना) के चलते इस विकृत व्यवस्था में अपने लिए माकूल जगह नहीं ढूँढ पाते और विस्फोट की तरह समाप्त हो जाते हैं।

'जली हुई रस्सी' 'नंगे' ये कहानियाँ निम्न वित्त आय वाले मुस्लिम पात्रों को केन्द्र में रखकर लिखी गई हैं। पेट और पीठ ढँकने के द्वन्दो में जीने वाले ये पात्र कुछ भी ढक पाने में सफल नहीं होते थे। ये कहानियाँ 'यशपाल' की 'परदा' कहानी की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। रिश्तेदारों से मुँह चुराना और अपने ही खोल में सिकुड़ते जाना ये आर्थिक दरिद्रता से उत्पन्न वो परिस्थितियाँ हैं, जो आदमी को कुण्ठित और करौला बना देती है।

'जगह दो रहमत के फरिश्ते आयेंगे' कहानी में एक ओर तो मुस्लिम समाज में व्याप्त सदियों पुराना अंधविश्वास झांकता है कि कुत्ता नापाक जानवर है, इसको पालने वाले घर में फरिश्ते नहीं आते तो दूसरी तरफ मिलने से बच्चों के मोह और बच्चों से पिता के प्रेम को रेखांकित करते हुए 'शानी' दिखाते हैं कि 'ब्राऊनी' को बाहर छोड़ आने पर बच्चों की उदासी देखकर पिता यकायक किस प्रकार दुखी हो जाते हैं गोया अपने ही किसी बच्चे को असुरक्षित छोड़ आए हो। पालतू जानवरों

की बीमारी और समाज में व्याप्त अंधविश्वास दोनों ही के चलते कई बार इन मूक जानवरों की जो दुर्दशा होती है इस सच्चाई को भी 'शानी' ने उजागर कर दिया है।

'इमारत गिराने वाले' यह कहानी ऐसे लोगों को बेनकाब करती हे, जो अपनी सम्पन्नता अथवा अर्जित शक्ति का दुरुपयोग कर आर्थिक दृष्टि से निम्नतर लोगों का शोषण करते हैं। गौरतलब है कि सामंती व्यवस्था में स्त्रियों को मनोरंजन और शोषण के लिए जबरदस्ती उठा लिया जाता था लेकिन पूंजीवाद से उत्पन्न भोगवाद के उस कुत्सित और अपसंस्कृत दौर में ये काम दूसरी चालाकियों के जरिए किए जाते हैं कहानी में इमारते गिराने का धंधा करने वाला यह युवक नैतिकता और संस्कारों की दीवारें भी गिराता है। अपनी निम्न वित्त आय के कारण तथा नैतिकता व संस्कारों की जड़े कमजोर होने के चलते अनिल और उसकी पत्नी उसकी जद में आ जाते हैं और बेशरमी की हद तक पहुँच जाते हैं।

'बीच के लोग', 'मासूम बाबा' 'डाली नहीं फूलती', 'दोजख़ी', 'एक नाव के यात्री', 'एक से मकानों का नगर' आदि कहानियाँ भी अत्यंत मार्मिक व हृदय स्पर्शी है। शहरी व कस्बाई जीवन में बढ़ रहे मध्यवर्गीय जीवन की पड़ताल करने वाली कहानियों की भी 'शानी' के यहाँ कमी नहीं है। मध्यवर्ग में उभरने वाले अंतर्विरोध स्वच्छंदता और समस्याएँ 'शानी' की दृष्टि से ओझल नहीं हो पाए हैं। इस संदर्भ में 'विष्णु खरे' की टिप्पणी सटीक प्रतीत होती है ''यहाँ या तो हैवानों में बदले हुए इंसान हैं या इंसानों पर सवारी करने वाला शैतान।''[20]

यदि 'शानी' के संपूर्ण लेखन पर एक नजर डालें और उसे समझने की कोशिश करें तो निष्कर्ष रूप में यह कहना अनुचित न होगा कि नाना परिस्थितियों व समस्याओं ने यदि शानी की सृजनात्मकता और उनके लेखन को बाधित या स्थगित न कर दिया होता तो हिन्दी को कुछ और मजबूत कहानियाँ और उपन्यास मिलने की आशा हम कर सकते थे।

कथेत्तर गद्य विधाएँ

शालवनों का द्वीप

शानी ने बस्तर के लोगों की ही नहीं वहाँ के नदी, पर्वत, झरनों और पेड़-पौधों की सांसों की आवाज को बड़ी शिद्दत से महसूस किया है। उन्होंने इस परिवेश के ठहरे हुए और निर्वसन जीवन के बीच से अपनी अनेक कथा रचनाओं के लिए सृजन सामग्री का अन्वेषण किया है। आदिवासी जीवन पर रौशनी डालने वाली अनेक कहानियों में शानी जब एक ही स्थानीय रंगत में भिन्न-भिन्न दृश्य उपस्थित करते हैं तो कहने की जरूरत नहीं रह जाती कि ऐसा करना सिर्फ चतुर शिल्पी का कोरा बुद्धि-विलास नहीं वरन् इस धरती से शानी के गहरे रागात्मक लगाव का बोधक है। शायद यही वजह है कि इस अंचल के कैनवास पर निर्मित उनके चित्र सच्चे व अनूठे प्रतीत होते हैं। इसी चंचल के जीवन और परिवेश के जीवंत चित्रांकन का बेशकीमती दस्तावेज़ उनकी अप्रतिम गद्य रचना 'शालवनों का द्वीप' है।

'शालवनों का द्वीप' में शानी ने अमेरिकी समाजशास्त्री व शोधकर्त्ता एडवर्ड जे.जे. के साथ अबूझमॉड़ में व्यतीत अठारह महीनों की स्मृतियों को लेखकीय ईमानदारी, गहरी संवेदना व अपेक्षित कलात्मकता के योग से मूर्त किया है। यह छठवें दशक के द्वितीय अर्धांश अर्थात् सन् 1959 के आसपास की बात है। शानी एडवर्ड जे.जे. की शोध परियोजना में अपनी नौकरी छोड़कर बतौर एंटरप्रेटर शामिल हो गए। अबूझमॉड़ के गाँव ओरछा के माडिया आदिवासियों के जीवन को दोनों ने अपनी अपनी दृष्टि से देखा। एडवर्ड ने एक कुशल व जिम्मेदार शोधार्थी की भांति उस क्षेत्र के निवासियों के जीवन पर समाजशास्त्रीय अध्ययन किया तो वही दूसरी तरफ उनके मित्र व सहयोगी शानी के भीतर छिपे कोमल मनुष्य व बेचैन लेखक ने न केवल आदिवासियों की उत्सवधर्मिता, जीवनोल्लास, उत्कट जिजीविषा, निरंतर

संघर्षरत जीवन तथा हमें अंदर तक विगलित कर देने वाली उनकी अनेक तकलीफों को अपनी इस पुस्तक के लिए विषय वस्तु के रूप में ग्रहण ही नहीं किया वरन् आदिवासी अंचल से संबद्ध अपनी कहानियों के अनेक चरित्रों की तलाश भी की है।

इस पुस्तक को पढ़ते हुए प्रतीत हुआ कि इसे विधा विशेष की कोटि में फिट करना ख़ासा मुश्किल है। दरअसल इसमें अनेक विधा-छायाएँ समवेत रूप से रिली-मिली सी प्रतीत होती है। अतः किसी सचेत पाठक को इसके रूप गठन संबंधी समस्या से दो चार होना पड़ सकता है। बावजूद इसके मेरी राय में इसे 'यात्रा-संस्मरण' की कोटि में रखना अधिक प्रासंगिक होगा।

समाजशास्त्री तथ्यों के मध्य धड़कते जीवन की नब्ज को टटोलना किसी संवेदनशील लेखक के लिए ही संभव है। शायद इसी कारण एडवर्ड जे.जे. ने इसे समाजविज्ञान से आगे की रचना स्वीकार किया है। यत्र-तत्र समाजशास्त्री विवरण तक होने के बावजूद भी यह पुस्तक पाठकों को बांधे रखने में समर्थ है। यह शानी की लेखिकीय क्षमता का बेजोड़ नमूना है।

जिन तथाकथित बुद्धिजीवियों की एकांगी दृष्टि ने आदिवासी जीवन को उत्सवधर्मी व हरफनमौला के पर्याय स्वरूप पहचान कर हमारे बीच जो एक मोहक भ्रम की स्थिति उत्पन कर दी है शानी ने अपनी सजग और व्यापक रचना दृष्टि तथा लेखिकीय ईमानदारी की बदौलत उस मिथ को तोड़ने में कामयाबी हासिल की हैं। उपरोक्त जीवन स्थितियों के साथ ही उन्होंने मनुष्य के संघर्षशील, पीड़ित, अभिशप्त, असुरक्षित, तरक्की की रोशनी से कोसों दूर अज्ञान के घुप्प अंधेरे में सुस्त पड़े असंगत जीवन की आड़ी-तिरछी रेखाओं को देखा और पहचाना है। ''यह यथार्थ मध्यवर्ग से आए कितने लेखकों की दृष्टि-परिधि में आ पाता है?''[21] इस कथन से सहमत-असहमत होना एक दीगर बात है, किन्तु शानी के लेखकीय अवदान पर सौ फीसदी फिट बैठता है।

पुस्तक में एकाध जगह थोड़ी बहुत आत्माभिव्यक्ति के अलावा शानी ने अपने संस्मरणों के केन्द्र में प्रायः माड़िया लोगों को ही रखा है। ये पात्र है- माशा, कथावाचक, गूमा, लाली, केये, चमरु, कोशी, अलीसेठ पिरचे, अमरसिंह, पटेल आदि। शानी ने बड़ी बारीकी से इनकी सही पहचान कर अपने लेखिकीय कौशल से इन्हें अविस्मरणीय बना दिया है।

अबूझमाड़ का क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से शालवनों का छीप मालूम होता है किन्तु यह भौगोलिक स्थिति शानी की इस पुस्तक के लिए शायद प्रेरणास्पद साबित न हो सकी। पिरचे नामक माड़िया आदिवासी के तीन-चार वर्षीय इकलौते बेटे की मृत्यु के बाद उसका छोटा-सा शरीर वहीं जंगल में दफनाया गया। शालवनों के बीच उसकी कब्र उभरे हुए छीटे से द्वीप की भांति प्रतीत होती है। यही मक-ब-यक शानी को अपनी इस किताब के लिए सही नाम मिल जाता है। यहाँ एक बात तो स्पष्ट है कि जहाँ दुख है वहाँ शानी की संवेदना अधिक सघनता के साथ मुखरित हुई है।

सारांशतः जनकीप्रसाद शर्मा के इस विचार से सहमत हुआ जा सकता है। ''इन तमाम चरित्रों के माध्यम से शानी ने आदिवासी माड़िया गोंडों की जीवन पद्धति, रीतिरिवाज़ों, परंपराओं रूढ़ियों और धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं के मलबे में दबी मनुष्यता की पीड़ा और उल्लास, दोनों को पहचानने की कोशिश की है।''[22]

एक शहर में सपने बिकते हैं

चार छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त इस पुस्तक का प्रकाशन वर्ष 1984 ई. है। साहित्यिकी, संस्मरण, एकांकी और विविध नामक खण्डों के अंतर्गत इस पुस्तक में शानी द्वारा यदा-कदा फुटकल तौर पर लिखित (विभिन्न विषयों पर) ग्यारह लेख संकलित हैं। शानी ने साहित्यिक विषयों पर अलग से बहुत कम (लगभग न के

बराबर) लिखा है। उन्होंने अपनी साहित्य विषयक अवधारणाओं को अपने उपन्यासों ओर कहानियों के बीच से ही व्यक्त होने दिया है। यहाँ संग्रहित लेखों से उनकी सामाजिक चिंताओं को समझने में कुछ मदद मिलती है।

इस पुस्तक में संकलित अंतिम लेख (जिसके नाम पर पुस्तक को शीर्षक दिया गया) 'एक शहर में सपने बिकते हैं', को ही लीजिए, यह शानी के शानदार गद्य की झलक प्रस्तुत करता है। इस ललित निबंध में संस्मरण का संस्पर्श है। इस लेख में शानी द्वारा एक लंबी कालवधि के बाद की गई रायपुर की यात्रा के स्मृति बिंब सुरक्षित है। इसी लेख से नीचे उद्धृत गद्यांश शानी के शानदार गद्य का बेजोड़ नमूना तो है ही साथ ही यह छत्तीसगढ़ की तत्कालीन मध्यप्रदेश मंज़रकसी को बंया करने वाला भी है। ''छत्तीसगढ़ में आकाश मुहकम-ए-जंगलात के नीलामी वाले, फटे और तिलस्माती तंबू की तरह तना होता है। सफेद त्रिगलियों और चमकीले सुराखों में शर्मिंदा सा। नीचे भूरा, गेरुआ या मैरुनी रंग का चटियत मैदान फैला होता है। बेजान और एक हद तक बेरंग। आपकी आँखें सब्ज़ा देखने को तरस जायेगी लेकिन दूर-दूर तक बेशरम झाड़ियों और बबूल के बेमानी पेड़ों के अलावा कुछ नहीं होगा। हो सकता है इसमें कहीं कोई मटियाले रंग का पेड़ दूर-दूर से दिखाई दे लेकिन नज़दीक आते ही पता चलेगा कि वह पेड़ नहीं ठूंठ है और उसकी शाखों में गिद्ध फले हुए हैं।''[23]

उपभोक्ता संस्कृति के इस दौर में मनुष्य के सपनों का बाज़ार में कूच कर जाना एक बड़ी सच्चाई है। आज लगभग ढाई-तीन दशकों बाद इस समस्या का आकार अधिक वृहद बल्कि कहना चाहिए कि सुरसामुखी हुआ है। शानी एक छोटे संदर्भ में हमारा सामना इस यथार्थ से करवाते हैं। वे हमें रायपुर के मोमिनपुरा मोहल्ले के एक परिवार की सैर अपनी स्मृतियों के ज़रिये करवाते हैं। इस लेख को पढ़ते हुए बरबस ही हमारा ध्यान इस परिवार के माध्यम से वहाँ बसे मुसलमानों के बुरे हालातों की ओर खिंच जाता है। जो कि इस निबंध का मूल

उद्देश्य है। मोमिनपुरा में तकरीबन नब्बे फीसदी आबादी जुलाहे-मुसलमानों की हैं जहाँ शानी ठहरते हैं उस परिवार सहित अन्य अधिकांश घरों में नजर-ए-नियाज की धूम है। लोग दरिद्रता का जीवन जीने के बावजूद नज़र-ए-निजाज़ मुस्लिम समाज में एक धार्मिक विश्वास है। जिसके ज़रिये लोग रातों-रात सम्पन्न हो जाना चाहते हैं। लोगों में किसी जादुई करिश्में द्वारा मन्नतें पूरी होने का धार्मिक भ्रम फैला हुआ है यह स्वप्न और यथार्थ के मध्य झूलते हुए एक आम मुसलमान परिवारों की एक तस्वीर है।

इस पुस्तक में शानी के कुछ साहित्यिक लेख भी संकलित है। यहाँ संक्षेप में उन लेखों पर भी कुछ रौशनी डालना जरूरी है 'आधुनिकता बनाम आधुनिकता' नामक अपने लेख में वे आधुनिकता और पश्चिमीकरण को अलगाते हुए आधुनिकता को उसकी स्थानीय परिस्थितियों की सापेक्षता में रेखांकित करने पर विशेष ज़ोर देते है। शानी का विचार है कि ''प्रसाद से भारती अथवा कामायनी और अंधा युग के बीच वाले अंतराल की समझ-देशगत इतिहास जनित आधुनिकता बोध की मांग करती है- वह बोध जो केवल कृति साहित्य ही नहीं, साहित्येत्तर अनेक कृतियों के क्रमवार अध्ययन या अध्यापन से ही पैदा किया जा सकता है।''[24] इसी बात को कुछ और विस्तार देने के क्रम में शानी का ध्यान उन साहित्येत्तर पुस्तकों की ओर भी गया है जिनमें आधुनिकता की अवधारणा को सही संदर्भों में देखने-समझने की सम्भावना तलाशी जा सकती है। यह अतिश्योक्ति नहीं बल्कि वैचारिक दृष्टि से छना हुआ सत्य है कि रूढ़ या परंपरागत अर्थों में साहित्य कहलाने वाली कृतियों के माध्यम से ही आधुनिकता के विकास और उसकी धारणा को नहीं समझा जा सकता। इसलिए जरूरी है कि हम साहित्य के दायरे से पृथक, अलग-अलग अनुशासनों में संम्पन्न अध्ययनों से भी मदद लें। शानी ने अपने इस मंतव्य को स्पष्ट करने के लिए प्रो. ट्रिलिंग का सटीक उदाहरण प्रस्तुत किया है। गौरतलब है कि प्रो. ट्रिलिंग ने कोलंबिया विश्वविद्यालय में आधुनिक

साहित्य की पाठ्य सामग्री सुनिश्चित करने के दौरान अतीत की ऐसी उन पुस्तकों का चयन किया जिनके जरिये आधुनिक विचारों की आधारभूमि तैयार हुई। शानी की ये राय कि 'सीधे आधुनिक साहित्य की कृतियों में सीमित रहकर आधुनिकताबोध की धारणा तक नहीं पहुँचा जा सकता।' चाहे सर्वमान्य भले ही न हो पर परहेज करने या नज़र अंदाज करने योग्य तो कतई नहीं है।

'सैदानी बी के रोजे में भारतीय मुसलमान की तस्वीर' राही मासूम रज़ा' के उपन्यास 'दिल एक सादा क़ाजग' की विस्तृत एवं गहन समीक्षा है। इसके ज़रिये शानी की भारतीय मुसलमान से जुड़ी चिंता उजागर हुई है। शानी की राय है कि राही मासूम रज़ा ने रफ्फन और भाईबाजू को भारतीय मुसलमान के वास्तविक और प्रतिनिधि चरित्र के रूप में रखना चाहा है। उपन्यास में विन्यस्त मुख्य घटनाओं और पात्रों के मूल्यांकन से शानी जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह बड़ा ही विचारोत्तेजक है। वे इसे इकहरा, सरल, सीधा और सपाट यथार्थ मानते हैं। उनकी चिंता है ''किसी भी जीवन की संश्लिष्ट इकाई को छोड़कर इकहरी बुनावट के चरित्र उठाना यदि लेखिकीय अक्षमता है तब तो कोई बात नहीं लेकिन बौद्धिक चेतना सम्पन्न कोई प्रखर लेखक अगर यही करे तो?''[25] उनके मुताबिक राही की प्रतिबद्धता में चतुराई की गंध मौजूद है। ''राही मासूम रज़ा का अनुभव संसार वाचाल अभिव्यक्ति नखरीली और भाषा सामंती है।''[26] ऐसा लगता है कि शानी यहाँ अपनी असहमति को अतिवाद की सीमा तक खींच ले जाते हैं। राही मासूम रजा के सम्पूर्ण कथा कृतित्व को दृष्टिगत रखते हुए शानी द्वारा महज़ एक पंक्ति में दे दिया गया निर्णय अनजाने में ही सही मगर राही के प्रति ज्यादती है। राही द्वारा अविवादास्पद मुस्लिम पात्रों को उठाना दरअसल उनकी चतुराई या अक्षमता नहीं माना जाना चाहिए। बल्कि एकता ओर सदाश्यता के प्रतीकों को साहित्य में रूपायित करने का सात्विक प्रयास कहा जाना चाहिए। नफ़रत की बुनियाद पर खड़ी साम्प्रदायिक शक्तियों के षड्यंत्र के कारण हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो

दूरियाँ बढ़ रही थीं, राही ने कहीं न कहीं इस खाई को पाटने की कोशिश की है। राही ने मुस्लिम जीवन की जो तस्वीर पेश की है वो अपने आप में भले मुकम्मल न हो पर इस तस्वीर को शामिल किये बगैर भारतीय मुसलमान की तस्वीर पूरी नहीं होती।

शानी द्वारा निर्मित भारतीय मुसलमान की अलग तस्वीर है। इसके पीछे उनके कटु अनुभव शामिल रहे है। इसी कारण शानी को राही द्वारा बनाई तस्वीर से परहेज है। दरअसल शानी अपने अनुभवों से ऊपर निष्पक्ष रूप से राही के इस उपन्यास की मीमांसा कर पाने में असफल रहे हैं। यह शानी द्वारा किसी भी पुस्तक पर लिखी गई पृथक और संभवतः अंतिम विस्तृत समीक्षा और शानी को लगातार ख्याल था कि उनकी प्रतिक्रिया लोगों को आहत करती है शायद इसी कारण वे समीक्षा कर्म से निरंतर बचते रहे।

'एक कहानीकार का पुनर्जन्म' नामक लेख का पूर्वार्द्ध आत्मपरक शैली में लिखा गया है और शेष आधे भाग में कहानी से जुड़ी बातों को उठाया गया है। इस लेख में शानी ने अपने रचनाकर्म के संदर्भ में मुखर होकर अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे लिखते हैं ''जहाँ तक अपना प्रश्न है मैं कहानियों में सामान्य मनुष्य के जीवन संघर्ष, उनकी करुण नियति या अवसाद को गहरी चिंता या कन्सर्न देकर प्रस्तुत करने में अधिक विश्वास करता हूँ। कहानी की इससे हटकर कोई और सार्थकता मेरी समझ में है भी नहीं।''[27] शानी की इस साफगोई और ईमानदारी को लक्ष्य करते हुए जानकीप्रसाद शर्मा ने एक स्थान पर लिखा है, ''यह कथन एक लेखक की आत्मश्लाघा नहीं है। कहानी के पाठक जानते हैं कि यही मानवीय चिंता या कन्सर्न उनकी पेशतर कहानियों की ज़मीन है। महत्वपूर्ण बात यह है कि चिंता पैबंद की तरह लगी टिप्पणियों में नहीं बल्कि पात्रों के जीवन के भीतर से प्रकट होती है।''[28] शर्मा की यह राय शानी के कथा साहित्य विशेष तौर से उनकी कहानियों पर बहुत मौजूं बैठती है। सचमुच इन्सानी दुख-तकलीफ शानी के यहाँ

टांके हुए या फिट किये हुए कृत्रिम प्रतीत नहीं होते बल्कि शानी की चिंता पाठक की संवेदना में अपनी निजी या आसपास की वास्तविक परेशानियों की तरह उतरने लगती है।

इस लेख में शानी कविता बनाम कहानी की बहस पर अपने विचार प्रकट करते हैं। शानी कहानी पर कविता के प्रभाव को खतरे के रूप में देखते है। उनका मानना है कि कविता के गुणों को कहानी में ढूँढना या ऐसी कहानियों को नई कहानी की उपलब्धि बताना जो वास्तव में 'पोएम इन डिजाइन' है। सख़्त ज्यादती ही नहीं जीवन से पलयान है। कहानी और कविता, दोनों के भाव जगत में अन्तर है। उनकी स्पष्ट राय है कि कहानी की स्वतंत्र आलोचना पद्धति विकसित होनी चाहिए। दरअसल, उस दौरान नई कविता की तर्ज पर कहानी में हो रही नये प्रतिमानों की घुसपैठ से शानी बेहद चिंतित थे। वे कविता के उपकरणों से कहानी की परख करने के सख़्त खिलाफ थे। विधाओं में इस तरह की घालमेल से शानी का हृदय कराह उठा। उस दौर की कथालोचना की विसंगति पर शानी का कटाक्ष है, ''लगता है कि निर्दोष कहानी की आँखों पर पट्टी बांधकर तथा गले में नई कविता का टोक लटकाकर उसे सूली के तख्ते पर खड़ा कर दिया गया है।''[29] गौरतलब है कि साठ के दशक में कहानी बनाम कविता की बहसों का मौसम बेहद गरम रहा। अतः एक कथाकार के रूप में यहाँ शानी की अपनी राय भी दर्ज है।

'गरेबां चाक करता है', में शानी ने 24 अप्रैल 1960 को प्रकाशित 'धर्मयुग' के अंक में छपे लक्ष्मीकांत वर्मा के लेख 'गैर जिम्मेदार पुस्तक समीक्षा' पर बेहद संतुलित प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने पुस्तक समीक्षा में आ रहे दोषों की ओर इंगित करते हुए समीक्षा जगत् में आलोचकीय विवेक के स्थान पर हावी हो रही समीक्षकीय बाजीगरी को स्वस्थ आलोचना परंपरा के विकास में खतरे के तौर पर देखा है। ऐसे में जबकि आलोचना का काफी बड़ा फ़लक पुस्तक समीक्षाओं के

ज़रिये ही तैयार होता हो तब यह संकट और भी अधिक गहरा जाता है। शानी ऐसी दुर्घनाओं के लिए लेखकों की ओछी महत्वकाक्षाओं को जिम्मेदार मानते हैं।

'मेरे लिए दुष्यंतकुमार' नामक संस्मरण में दुष्यंतकुमार को लेकर शानी की स्थिति को गालिब के इस शेर के जरिये समझा जा सकता है। 'उसी को देखकर जीते हैं, जिस काफिर पे दम निकले।' शानी अपनी स्थिति को व्यक्त करते हुए लिखते हैं, ''मैं दुष्यंत कुमार का मित्र बन गया क्योंकि वह बेहद बेमुरव्वत आदमी था ओर अक्सर उसकी बेमुरब्वती की ओट मुहब्बत से छलछलाती हुई एक नदी बहती थी।''[30] दुष्यंतकुमार से अपनी मित्रता तथा कुछ अन्य निजी प्रसंगों के अतिरिक्त इस संस्मरण में शानी ने बेहद ईमानदारी से दुष्यंतकुमार के कवि व्यक्तित्व को खोलने व समझने का प्रयास किया है। इसके लिए दुष्यंत कुमार की ही पंक्तियों को आधार बनाया गया–

कुलबुलाती चेतना के लिए सारी सृष्टि निर्जन
और कोई जगह ऐसी नहीं
सपने जहाँ रख दूँ
दृष्टि के पथ में तिमिर है
और हृदय में छटपटाहट
ज़िन्दगी आखिर उठाकर
कहाँ रख दूँ, कहा फेकूँ।

शानी की मानें तो यह सिर्फ कविता नहीं, इसके सम्पूर्ण कविता संसार का चारित्रिक बिम्ब है।

इस पुस्तक में शानी के आत्मकथित गर्दिश के दिन के अलावा दो एकांकी भी संकलित हैं 'गुलाब में रफू' नामक उनका एकांकी चित्रित परिवर्तनों के साथ उनकी एक कहानी ''एक नॉव के यात्री'' के रूप में मौजूद है। दूसरे शब्दों में कहे तो यह एकांकी उस कहानी का नाट्य रूपांतरण है। नाटक दर नाटक एकांकी

ऐसे स्त्री पुरुष के वर्जना पूर्ण संबंधों पर केन्द्रित है। जो अपने-अपने जीवन में विवाहित है। इस एकांकी में विवाहेत्तर प्रेम की विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है।

नैना कभी न दीठ

'शानी' द्वारा लिखे गए स्तम्भ 'किसी बहाने' के अंतर्गत 'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित हुए थे, उनके लेखों को पुस्तकाकार संकलित कर 'नैना कभी न दीठ' नामक यह संग्रह प्रकाशित किया गया। पुस्तक में संकलित एक लेख में दोहे के आधे भाग के रूप में पृथक्त एक पंक्ति 'मैं का जानू राम को, नैना कभी न दीठे' के आधार पर डॉ. केदार नाथ सिंह ने इस संग्रह का नाम 'नैना कभी न दीठ' दे दिया।

इस पुस्तकाकार लेख माला में 'शानी' द्वारा 'नवभारत टाइम्स' के 'किसी बहाने' कॉलम में हफ्तावार लिखे गए मार्च 1992 से अक्टूबर 1992 तक के लेख संग्रहित हैं। इसमें संकलित अंतिम लेख 'हिन्दी मुसलमान और हिन्दू समाज' इस शृंखला की कड़ी का हिस्सा नहीं है। समसामयिक लेखन पर 'शानी' की यह पहली और शायद आखिरी कोशिश थी। नियमित रूप से अखबारों के लिए काम करने वाले पत्रकारों के लेखों और इन लेखों के बीच अन्तर करते हुए जानकी प्रसाद शर्मा लिखते हैं ''पहले प्रकार के लेखों में सतही तथ्यों का ढेर और मसाला होता है। भाषा तो भ्रष्ट होती है इसके बरक्स एक रचनाकार के लेखों के स्तंभ लेखन संवेदनाओं में सृजनात्मकता की मौजूदगी मिलती है। अपनी लेखिकीय ईमानदारी की कीमत पर वह स्तंभ था साप्ताहिक पेट भरने के लिए कतई तैयार नहीं होगा।''[31] शानी की रचनाशीलता पर टिप्पणी करते हुए वह आगे लिखते हैं, ये लेख इस बात की गवाही देते हैं, ये किसी भी रूप में उनकी (शानी) कहानियों से कम महत्वपूर्ण नहीं है। एक रचनाकार की बेचैनी और चिंता महज विधाओं के घेरे तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि इससे इतर लेखन में भी उसकी चिंताएँ और उलझने

जाहिर होती रहती हैं। शानी के सभी लेख उनके इस पैनेपन को उजागर करते हैं।

विभिन्न अवसरों पर रचनाकारों और कलाकारों से हमारी अपेक्षाएँ कुछ बढ़ जाती हैं। हम उससे सीधे हस्तक्षेप की अपेक्षा करने लगते हैं। पुस्तक के लेखों में 'शानी' की भी लगभग यही भूमिका रही है। 1992 के दौर में घटित राजनैतिक सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण शानी ने पूरी संजीदगी के साथ अनूठे अंदाज में किया है। इस पुस्तक की प्रस्तावना में यह पता चलता है कि राजनैतिक मसलों में मुँह मारने में 'शानी' की कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि तत्कालिकता का दबाव रचनाकत्मकता की संभावनाओं को दबाता है। 'शानी' की राय है कि समसामयिक लेखन के फायदे और नुकसान दोनों है। नुकसान तो यह है कि लेखक की दृष्टि मछली की दृष्टि की भांति अपने चारे (लोकप्रियता के लिए आवश्यक मसाला) की तरफ केन्द्रित रहती है। वहीं इसके लाभ की ओर भी 'शानी' ने संकेत किया है वे लेखक की स्थिति को घोड़े सी मानते है। लेखक को सक्रिय रहने के लिए उसकी पीठ पर निरंतर चाबुक पड़ते रहने चाहिए। अपने इस कॉलम लेखन को लेकर शानी का विचार है कि ''कालम लिखते हुए मेरा यह बराबर और सचेत प्रयास था कि किसी बहाने मैं कहीं भी जा सकूँ। यह कोशिश भी शामिल थी कि कॉलम के तहत लिखे लेख समाजिकता ओर तत्कालिकता को छोटे और समेटे हुए उन्हें फर्लांग सके।''[32] 'शानी' इन लेखों के जरिए अपनी कलात्मकता और कथन भंगिमा के जरिए समय के आर-पार देखते प्रतीत होते हैं। वे सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि और अपनी कार्य समझ के चलते नीरस मुद्दों में भी अपना प्राप्य ढूँढ लेते हैं। संदर्भो को सुसंगति प्रदान करने की क्षमता के चलते वे अपने खास अंदाज में वर्तमान से अतीत और अतीत ही से वर्तमान की ओर यात्रा करते दिखाई देते हैं। वे मीर और ग़ालिब की शायरी के ज़रिए आज के यथार्थ को उद्घाटित करने की कोशिश करने लगते हैं। कभी लेख के बीच में प्रसंगवश शेरों को महज टॉककर पाठक थे लिए मानसिक व्यायाम का स्पेस छोड़ देते हैं और कभी उद्धृत पंक्तियों

की व्याख्या करते हुए अर्थ को खोलते चलते हैं।

पुस्तक के आरंभ में अमेरिकी पत्रकार 'जान मैथली' के बिना पर कहानी और गैर कहानी का मुद्दा उठाया है। 'शानी' 'मैथली' की राय से सहमत होकर लिखते हैं कि मेरे संतोष के लिए इतना काफी है कि मैंने अपने आस-पास रोज-ब-रोज व्याप्त रही सच्चाईयों को देखने समझने ओर आइने की तरह उन्हें रखने की कोशिश की हैं। कहानियों और उपन्यासों में नहीं बल्कि उनके बाहर कहीं।

विषयों, संदर्भों के विविध आयामी होने के बावजूद प्रायः लेखों में अभिव्यक्त केन्द्रीय ओर मूल स्वर सांप्रदायिकता विरोधी है। ये लेख बाबरी मस्जिद ध्वंस के तांडव नृत्य के पूर्व यानी उन्हीं दिनों लिखे गए थे। देश भर में इस क्रूर त्रासदी के लिए अघोषित घिनौनी योजनाएँ बन रही थी। 'शानी' ने संजीदगी से इस नब्ज पर ऊंगली रखी है ताकि इसके पीछे मौजूद ना दिखाई देने वाले हाथ की शिनाख्त करने में हमें कुछ मदद मिल सके। गैर जरूरी मुद्दों को अपना हथियार बनाकर आवाम में नफरत का जहर घोंलने वाले सफेद पोंश लोगों को बेनकाब किया जा सके।

'शानी' इन लेखों में विभिन्न सांप्रदायिक रूपों से मुठभेड़ करते नजर आते हैं। सच का यही अंश उन्हें अपनी कथा रचनाओं में छूटा हुआ प्रतीत होता है। परिणामस्वरूप गैर कहानी में मुखर होता है।

संदर्भ

[1] डोमिनिक लेपियर और लेडीज लित्स, आजादी आधी रात को।

[2] राही मासूम रजा, आधा गाँव।

[3] महुआ माझी, मैं वोरीशाहइल्ला

[4] जाहिद खान, आजाद हिन्दुस्तान में मुसलमान, पृ. 27.

[5] वही

[6] वही, पृ. 23.

[7] भारतीय संविधान (अनुच्छेद 14, 15)

[8] जाहिद खान, आजाद हिन्दुस्तान में मुसलमान, पृ. 25.

[9] वही, प्रस्तावना

[10] वही, पृ. 26.

[11] शबनम बिरमानी और लिंजहेस, अ प्रोजेक्ट ऑफ कबीर (वीडियो)

[12] डोमिनिक लेपियर और लेडीज लित्स, आजादी आधी रात को।

[13] जानकी प्रसाद शर्मा (संपादक) शानी : आदमी और अदीब, पृ. 17.

[14] शानी, साँप और सीढ़ी, पूर्वाभास

[15] शानी, नदी और सीपियाँ, पृ. 90.

[16] वही

[17] शानी, एक लड़की की डायरी, पृ. 13.

[18] शानी, काला जल, पृ. 109.

[19] शानी, शानी की कहानियाँ, पृ. 46.

[20] वही, पृ. 80.

[21] जानकीप्रसाद शर्मा, भारतीय साहित्य के निर्माता, पृ. 90.

[22] वही, पृ. 93.

[23] शानी, एक शहर में सपने बिकते हैं, पृ. 96.

[24] शानी, एक शहर में सपने बिकते हैं, पृ. 4.

[25] वही, पृ. 16.

[26] वही, पृ. 15, 16.

[27] वही, पृ. 22.

[28] जानकी प्रसाद शर्मा, भारतीय साहित्य के निर्माता, शानी, पृ. 96.

[29] शानी, एक शहर में सपने बिकते है, पृ. 23.

[30] वही, पृ. 34.

[31] जानकी प्रसाद शर्मा, भारतीय साहित्य के निर्माता, शानी, पृ. 98.

[32] शानी, नैना कभी न दीठ, (प्रस्तावना), पृ. 9.

अध्याय-2

काला जल में मुस्लिम समाज की समस्याओं का स्वरूप

(क) सामाजिक-राजनीतिक चेतना का अभाव

प्रत्येक व्यक्ति का बोध समाज सापेक्ष होता है जिसमें उसके जीवन के कड़वे तीखे अनुभव धूप-छाहीं रूप में शामिल होते हैं। व्यक्ति के विचारों की प्रसार भूमि समाज होता है। कला अथवा साहित्य यदि सामाजिक प्रक्रिया के अंग स्वरूप निरूपित होते हैं तो निश्चय ही उसका कर्ता (कलाकार) दोहरे व्यक्तित्व से युक्त प्राणी होता है। प्रथमतः वह जनसाधारण की भांति सुख-दुख से गुजरता हुआ अपनी जीवन यात्रा में आगे बढ़ता है। और दूसरा यह कि वह साधारण मनुष्य के हर्षविषाद, उसकी जिजीविषा, जीवन समस्याओं व सामाजिक चेतना को अपनी उत्कृष्ट साहित्यिक सृजनशीलता के माध्यम से एक विशेष प्रकार की सृष्टि कर समाज को प्रदान करता है। युगीन परिस्थितियों से प्राप्त अनुभवों को अपेक्षित कल्पना-शक्ति तथा रचनाधर्मिता के माध्यम से कला अथवा साहित्य में चित्रित करने का उसका प्रयास उसके अपने साहित्य में यथार्थबोध को जीवंत बना देता है।

हिन्दी साहित्य में जीवन की समस्याओं को कथा साहित्य, विशेषकर उपन्यास विधा ने प्रेमचंद युग से ग्रहण करना शुरू किया। इससे पूर्व उपन्यास मूलतः रोमांस और मनोरंजन तक ही सीमित था। प्रेमचंद समाज की विकृतियों का वर्णन तटस्थ रूप से कर देना ही कलाकार का दायित्व नहीं समझते थे अपितु उनकी मान्यता थी कि समाज में जो कुछ ठीक है उसे और बेहतरी की ओर ले जाया जाए। जो चीजें घृणित अथवा त्याज्य हैं उनका समुचित समाधान किया जाए। यही कारण है कि उन्होंने अपने आरंभिक लेखन में सुधारवादी दृष्टिकोण का

प्रतिपादन किया है। उनके साहित्य का एक बड़ा हिस्सा मिथ्यावाद और अन्याय पर सत्य और न्याय की विजय की सुखद कल्पना से युक्त है। बाद में संभवतः उन्होंने अनुभव किया कि उत्कृष्ट उपन्यास सृजन के लिए भावुकता से युक्त उपरोक्त परिपाटी उतनी आवश्यक नहीं जितना जीवन के यथार्थ, मनुष्य की समस्याओं तथा उसकी सामाजिक राजनीतिक चेतना का उद्‌घाटन आवश्यक है। गोदान उनके इसी मानसिक परिवर्तन का सूचक है।

प्रेमचंदोत्तर काल में ऐसे उपन्यासकारों की सुदीर्घ परंपरा मौजूद रही जिन्होंने सामाजिक जीवन के यथार्थ को केन्द्र में रखकर रचना की। ये कथाकार परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा विचारधाराओं से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी कला को क्रमशः नए आयाम देते आए हैं। परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर जटिल हो रहे मानव जीवन की सघन व संगठित अभिव्यक्ति का नैरंतर्य कथा साहित्य में बना रहा है।

गुलशेर खाँ 'शानी' का उपन्यास 'काला जल' इसी अविच्छिन्न परंपरा की एक कड़ी है। सामाजिक जीवन मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। व्यक्ति अपनी आंतरिक गुफाओं में कैद तथा जीवन और जगत के यथार्थ से मुक्त जीव नहीं है और अकेले उसकी कोई सार्थकता भी नहीं है। वह सामाजिक जीवन में प्रभावित चेतना से युक्त गतिशील सत्ता है। इसी प्रकार 'काला जल' के जीवन का प्रवाह वहाँ मौजूद समस्याओं को झेलता हुआ यथार्थ के थपेडों से डगमगाता हुआ समय के साथ आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है।

'काला जल' के पात्र उस जीवन के नमूने हैं। इनके अध्ययन से बस्तर के जगदलपुर क्षेत्र में रह रही मुस्लिम आबादी की समस्याओं विसंगतियों तथा पिछड़ेपन का अनुमान लगाया जा सकता है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय तथा निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार की तीन पीढ़ियों की कथा है जो स्वतंत्रता से पूर्व अर्थात् बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ पश्चात् तक अपने सामाजिक जीवन के उतार-चढ़ाव को दर्ज करती चलती है।

'काला जल' में वर्णित छत्तीसगढ़ का यह भाग अपनी भौगोलिक संरचना के कारण शेष भारत से कटा हुआ है। इसका संकेत हमें उपन्यास के तेरहवें परिच्छेद में मिल जाता है, ''सचमुच, द्वीपों के जीवन से तब बस्तर का जीवन किस तरह भिन्न और अलग था।''[1]

''द्वीप के चारों ओर अपार और अथाह जलराशि होती है। उसे शेष जगत से जोड़ने वाली होती है एक नाव और चंद नाविक, जो समय-समय पर गहरे झकोलों के बीच की धरती पर पाँव रखते हैं और उतनी देर के लिए वहाँ का जीवन बदल जाता है, कमरों में बंद लोग किवाड़ खोल खोल कर द्वीप के लहर भीगे तटों तक दौड़ जाते हैं और उनकी उत्सुक आँखें देखती हैं, हिलती हुई सफेद पाल, यहाँ से वहाँ लहराती हुई नीली धाराओं का अनंत फैलाव और ऊपर उड़ने-मंडराने वाले बगुलों की इकहरी, दोहरी या तिहरी कतार...

हम लोगों की स्थिति इससे अधिक और क्या थी? चारों ओर फैले सागौन शाल के घने जंगलों, दुर्गम पहाड़ियों, गहरी घाटियों, बाढ़ से बिफरते असंख्य नदी-नालों और लाख लाख आदिवासियों वाला बस्तर तथा उसमें तिल के अंबार में चावल में एक दाने की तरह छोटा सा कस्बा-जगदलपुर। अंग्रेजी शासन और रियासती दौर में भी वह द्वीप से अधिक कुछ नहीं रहा। शासक आए और गये लेकिन बस्तर में कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जगदलपुर से बाहरी दुनिया की दूरी सौ डेढ़ सौ मील से कभी नहीं घटी। एक ज़माने तक यह फासला बैलगाड़ी से तय किया जाता रहा, लेकिन फिर रोते-धोते एक बस सर्विस शुरू हुई, जो सुबह सात बजे चलती तो रात को दस के पहले बाहरी जगत में पाँव नहीं रखने देती।''[2]

देश और समाज की मुख्यधारा से कटा हुआ बस्तर जैसा कोई भी द्वीपनुमा अंचल किस तरह आधुनिक युग में भी सामाजिक-राजनीतिक चेतना से अछूता रहकर अपने सीमित व बंधे-बंधाए जीवन में उलझा रहता है। आधुनिक चेतना की

किरणे इस जीवन से कोसों दूर हैं, आगे हम इस उपन्यास के जरिये बस्तर के मुस्लिम समाज की सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों को समझने का प्रयास करेंगे।

आरम्भ में सामाजिक व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त बनाए रखने की मंशा से वर्गाश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया गया। साक्ष्य मिलते हैं कि यह व्यवस्था पहले कर्म आधारित रहीं किन्तु धीरे-धीरे इसमें जड़ता व कठोरता का प्रवेश होता रहा है और इस व्यवस्था का आधार कर्म के स्थान पर जन्म को माना जाने लगा। हिन्दू समाज की तुलना में मुस्लिमों के यहाँ वर्ण व्यवस्था अथवा जाति आधारित भेदभाव काफी कम है। फिर भी यह दोष वहाँ भी है अवश्य।

भारतीय समाज में विद्यमान वर्ण व्यवस्था के ये तत्व हमें 'काला जल' में भी प्राप्त होते हैं। मिर्जा, दरोगा हैं, वे एक हिन्दू बिट्टी रवताइन से प्रेम विवाह करते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश आधुनिक व स्वस्थ समाज के निर्माण व विकास हेतु आवश्यक लचीलेपन व सामंजस्य का नितांत अभाव होने के कारण बीसवीं शताब्दी के परिवर्तनशील युग में भी उनका रवैया भेदभावपूर्ण बना रहता है। वे अपनी पत्नी को बराबरी का दर्जा देना तो दूर उल्टे गालियों से नवाजते हैं, ''साली, बद्जात, कमीनी, आखिर अपनी जात औकात कहाँ छोड़ेगी''[3] यह अपने से अलग सम्प्रदाय या जाति को नीचा समझने की कुत्सित प्रवृत्ति है। साथ ही स्त्री को स्वतंत्र सत्ता न मानकर उसपर अपना दबदबा कायम रखने की सदियों पुरानी बदनीयत भी। बब्बन के पिता अपनी साध्वी पत्नी को अनायास ही कई बार तिरस्कृत व अपमानित करते हैं, ''नीच जो ठहरी, भले घर की होती तो ऐसी बात न करती।''[4] आधुनिक युग में परिवर्तन संबंधी सकारात्मक संकेत मिलने अवश्य आरम्भ हो गए थे किन्तु अभी भी चुनौतियाँ कम नहीं हुई थीं, वरना अनेक समाज सुधारकों को इन समस्याओं के लिए आजीवन संघर्ष न करना पड़ता। ऐसे में किसी बहुत ही पिछड़े अंचल में इंसान को उसकी जातीय उच्चता अथवा निम्नता के बजाय इंसान के रूप में पहचाने जाने की कल्पना करना एक मोहक भ्रम जाल बुनने जैसा होगा।

हिन्दू वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत चांडाल जाति अति निम्न अर्थात् पांचवीं श्रेणी में गिनी जाती है। ये तथाकथित मुख्य आबादी से दूर अलग बस्तियों में निवास करते हैं। यहाँ अच्छे भले कहे जाने वाले लोग नहीं आते हैं। संकटग्रस्त बब्बन का परिवार इन्हीं की बस्ती में आकर शरण लेता है। बब्बन की माँ हमेशा इस बात पर दुखी रहती हैं, ''कई दिनों तक अम्मी इस बात पर रोती रही कि कहाँ चण्डालों के बीच आकर पड़ गए।''

समाज में स्त्रियों की स्थिति हमेशा एक सी नहीं रही। जिन रास्तों से होकर समाज की राजनीति और अर्थनीति बदली उन्हीं रास्तों से होकर बदला समाज में औरतों का हाल भी।

इस दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में आमतौर पर हमारा देश मध्यकालीन प्रभावों में ही जी रहा था। महिलाएँ घर से निकलने के बारे में भी सोच नहीं सकती थी। हाँ! यूरोप के नारी स्वतंत्रता आंदोलन की चिंगारी छिटपुट तौर पर देश में पहुँचने लगी थी। 1920 के आसपास जब भारत में पहले पहल लड़कियों के लिए कुछ स्कूल खोले गए तो रूढ़िवादी तबके ने उसका जबरदस्त विरोध किया लेकिन जागरण की शुरूआत तो हो ही चुकी थी। हालांकि घरों में औरत का हाल कमोवेश वैसा ही था-मूक गुड़िया सरीखा। चालीस के दशक में स्कूल जाने वाली महिलाओं की संख्या विरोध के बावजूद बढ़ रही थी। पुरुषों में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया था जो चाहता था कि उसके घरों की महिलाएँ भी पढ़ें-लिखें। इसके बावजूद महिलाओं की स्थिति में आमतौर पर कोई खास तब्दीली नहीं आई थी।

आजादी के बाद हालात कुछ हद तक बदले, पढ़-लिखकर बड़ी हो रही नारियों की पीढ़ी ने समाज में एक जागरूकता पैदा करनी शुरू की। स्त्रियों की पढ़ाई को सामाजिक स्वीकार्यता मिल चुकी थी। बहुत कम संख्या में महिलाएँ नौकरी की ओर कदम बढ़ा रहीं थी। परिवार का मुखिया अब भी पुरुष था, घर

उसी की मर्जी पर चलता था, महिलाओं की सीमाएँ तय थी लेकिन उन्हें लगने लगा कि समानता के आधार पर परिवार में उनकी भी अहम जगह होनी चाहिए।[5] अस्सी के दशक तक महिला अधिकारों की बातों को गंभीरता से लिया जाने लगा, महिला संगठनों की बात सुनी जाने लगी। उन्होंने नए व्यवसायों की ओर कदम बढ़ाना शुरू किया। वो आर्थिक आत्मनिर्भरता को गंभीरता से ले रही थीं।

वैश्वीकरण का दौर दस्तक दे रहा था, नए तरह का आत्मविश्वास महिलाओं में देखा जाने लगा। वेश-भूषा से लेकर बातचीत तक में। रातों-रात गोया एक नई क्रांति हो गयी, शहरी महिलाएँ बदल रही थीं, लेकिन छोटे शहरों और गाँव में कमोबेश वही हाल था। पुरुष बदल रही नई स्थितियों से समझौता कर रहे थे। इक्कीसवीं सदी के आरंभिक लगभग बारह वर्षों में अलग तरह के पुरुष और स्त्रियों का उदय हुआ। बराबरी से व्यवहार करने वाले जोड़े बनने लगे, पति ज्यादा संवेदनशील होने लगे, नौकरीपेशा बीवी के साथ उसके रिश्ते बदलने लगे।

इन तमाम सामाजिक हालात में 'काला जल' में मौजूद स्त्री पात्रों की हालत कैसी है हम इसे समझने की कोशिश करेंगे। ''फूल चुनने में छोटी फूफी के साथ और भी बहुत से हाथ थे। उन सब लोगों ने बड़ी फुर्ती भी की किन्तु उनके हिस्से में कोरी पत्तियों का ढेर आया; यूँ भी छोटी फूफी के नसीब में फूल कहाँ थे, थी पत्तियाँ केवल अल्लर-अल्लर और कुम्हिंलाई हुई पत्तियाँ।''[6] छोटी फूफी के मार्फत शानी ने भारतीय नारी (मुस्लिम) की दुर्दशा का बड़ा ही सटीक चित्रण किया है। पर्दा प्रथा, अशिक्षा, दाम्पत्य जीवन की कटुता, स्त्री के प्रति निर्ममता का व्यवहार तथा उसका निर्बाध शोषण अनचाहे व बेमेल विवाह जैसी पारिवारिक, सामाजिक बुराईयाँ एक बारगी 'काला जल' के पाठक को झकझोर कर रख देती हैं।

तथाकथित मर्यादा अथवा इज्जत का केन्द्र औरत को मानना तथा इन सब की आड़ में उस पर कठोर नियंत्रण रखना, जानवरों से भी बद्तर सलूक करना आदि सारी कुत्सित प्रवृत्तियाँ बड़ी आसानी से हम अपने आसपास पा सकते हैं।

शानी ने उपन्यास के आरंभिक अंश में ही अत्यंत वीभत्स और क्रूरता को भी लज्जित कर देने वाली, स्त्री के प्रति पुरुषों द्वारा की जाने वाली हृदय विदारक बर्बरता का चित्र खींच दिया है। रात जब बड़ा फाटक बंद हुआ, तो बड़ी देर तक झगड़ा चलता रहा। मर्यादा आवाज दबाकर बोलने पर विवश करती थी लेकिन गुस्सा था कि सब भुला देता और सुनारिन की तेज आवाज साफ़ सड़क पार कर आती थी।, ''ऐसा ही है तो मुझे परदे में बैठा दे....ताले में बंद करके रख। मेरा उठना-बैठना, चलना-फिरना, कहीं आना-जाना पाप हो गया। न मरने दे, न जीने.....''[7]

''हूँऽऽऽ!'' सुनार चिढ़ाने के ढंग पर शायद हाथ नचाकर बोला था, ''कडाही में तो तल रहा हूँ न? जैसे तू तो सती सावित्री है। दिनभर दरवाजे के पास खड़ी होकर लौंडो को तो मैं ही ताकता हूँ छिनाल, बना बहाने, दस बार निकल निकल कर देख अपने यारों को और झोंक मेरी आँखों में धूल! जवानी एक तुझ पर ही तो आई है। जब देखो, छाती उछालती, चटकती-मटकती चली जा रही है साली, किसी दिन तेरे ये दूध काट-कर न फेंक दूँ तो कहना। न रहे बांस, न बजे बांसुरी.....''[8]

क्रोध में झपटकर तेजी से आने और पास डट कर ढिठाई करने की आहट, ''ले... ले काट, काट कर फेंक... मैं भी तो देखूँ तेरी मर्दानगी।''

तड़ तड़ पीठ पर घूंसे पड़ने छीनाझपटी करने और सुनारिन के रोने की आवाज। मार डाल! जान से ही खत्म कर दे! तेरे जैसे पापी से तो छुटकारा मिले। हरामी, जब दम नहीं था तो शादी का शौक क्यों चर्राया था? पापी.... हत्यारा....।''[9]

लेकिन उसके बाद अचानक सुनारिन की आवाज बंद हो गयी थी, जैसे किसी ने कसकर मुँह ही बंद कर लिया हो फिर एकाएक दबा हुआ स्वर बड़ी जोर से चीरता हुआ मुहल्ले भर में गूंज गया था ''माँ गोाओओओ! माँ गोओओ।''

पास-पड़ोस के लोग कुछ चौकन्ने हुए थे। एक-दो औरते बंद फाटक तक जाकर पल्लों को भड़भड़ाती हुई, नाम ले लेकर पुकारने लगी थी। लेकिन इतने पर भी न तो सुनारिन का विलाप बंद हुआ था और न ही फाटक खुला, तो कुछ लोग आशंकावश पीछे की दीवार फांद कर आंगन में उतर गये थे।

दालान के कच्चे फर्श पर सुनारिन बिल्कुल नंगी पड़ी हुई थी और बलपूर्वक दबाए हुए उसका पति छाती पर बैठा हुआ था। अपने हाथ में सोने के ज़ेवर बनाने वाली छोटी हथौड़ी लिए वह युवती की नाभि के नीचे की नंगी हड्डी पर रह रहकर चोट देता, दांत पीसता और जैसे सबक सिखाने के ढंग पर गंदी गालियाँ बकता हुआ कहता, ''अब बोल, बोल....''

जैसे ही लोहे की मार उसकी हड्डी पर पड़ती वह तिलमिलाती हुई, कमर उठाकर तड़पते या छूटने के प्रयास में छटपटाती, हाथ-पाँव तानती-फेंकती और फूहड़ से फूहड़ गालियाँ देती हुई चिल्लाकर रोती, ''माँ गोओओओ....''

भारतीय समाज व्यवस्था पितृसत्तात्मक होने के कारण पुरुष, स्त्री की अपेक्षा स्वतः ही अधिक अधिकार पा लेता है। उसे अनेक सामाजिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त होने के साथ ही परिवार और समाज में दबदबा और प्रतिष्ठा भी अधिक मिली हुई है, किन्तु स्त्री थोपे गए सामाजिक नियमों, कायदों के घेरे में छटपटाती रहने को विवश है। चाहे वे कायदे-कानून महज रस्म ही क्यों न हों या फिर अप्रासंगिक ही क्यों न हो गए हों, किन्तु फिर भी समाज के एक बड़े हिस्से में आज भी स्त्री चार दीवारी के भीतर बंद, पुरुष के संकेतों पर नाचने के लिए मजबूर है। सामंती प्रवृत्ति का प्रेत आज भी कमोवेश अपने थोड़े या अधिक प्रभाव के साथ हमारी मानसिकता पर पकड़ बनाए हुए है। नारी को वस्तु समझने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे थोड़ी कम अवश्य हुई है लेकिन खत्म नहीं। सल्लो आपा जैसी लीक से थोड़ा हटकर जीने की कोशिश करने वाली, सदियो से मर्यादा की आड़ में दबी कुचली प्रताड़ित औरतों से अंशतः ही सही किन्तु भिन्न दिखने वाली इस युवती की

परिणति मृत्यु में होती है। और छोटी फूफी जैसी परंपरानुगामिनी स्त्री क्षण-क्षण मरते रहने के बाद भी अंत तक जीवित है।

मुस्लिम परिवार में नारी की स्वतंत्रता हिन्दू नारियों की अपेक्षा अधिक संकटग्रस्त है। 'काला जल' में इसका प्रतयक्ष उदाहरण हमें सहज ही मिल जाता है। मिर्जा की हिन्दू पत्नी, लंगड़े रावत की बेटी, बिट्टी रवताइन शादी के बाद भी घर से बाहर निकलती है और चूड़ियों का धंधा करती है। वहीं उसकी दूसरी पत्नी जो कि मुस्लिम समुदाय से ही है, आवश्यकता पड़ने पर भी जीविका के लिए बाहर नहीं जा पाती, फिर भी, भारतीय समाज में दोनों तरह की स्त्रियाँ शोषित हैं।

भारतीय समाज में पर्दा प्रथा, बहुत अधिक पुरानी नहीं है। आर्य तथा वैदिक काल में स्त्रियाँ इस रुढ़िवादी प्रथा से मुक्त थीं, दरअसल इसका प्रचलन मुस्लिम सभ्यता व संस्कृति के प्रसार और विस्तार के साथ आरम्भ हुआ। मुस्लिम सभ्यता में स्त्रियों को खुला रखने पर प्रतिबंध रहा है। आज भी मुसलमान अपने आपको इससे पूरी तरह निजात नहीं दिलवा पाए हैं। सामंती दबदबे और आतंक के दौर में जब महिलाओं को मात्र उपभोग की वस्तु समझा जाने लगा तो हिन्दुओं के यहाँ यह प्रचलन आम हो गया। पर्दा प्रथा का स्पष्ट अर्थ है, स्त्री स्वतंत्रता का हरण। उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारों ने इस चेतनाशून्यता और सामाजिक कुरीति के विरुद्ध आवाज़ बुलंद की। उनकी दृष्टि में जब तक स्त्री अनावश्यक बंधन में पड़ी रहेगी तब तक उसके अस्तित्व की सार्थकता संभव नहीं है।

मुस्लिम सम्प्रदाय में शिक्षा के प्रचार से इस कठोर नियम में कुछ ढीलापन आया है। इसका उदाहरण विवेच्य पुस्तक के एक पात्र रसूल की बड़ी लड़की है जो इधर कुछ दिनों से पर्दा छोड़कर ग्राम सेविका की नौकरी करने लगी है, फिर भी वह मानसिक रूप से इस परिवर्तन के लिए या तो तैयार नहीं है या फिर असंमजंस का शिकार है इसीलिए अंजान पुरुषों पर नजर पड़ते ही वह पर्दा नशीनों की तरह छिप जाती है।

दुर्भाग्यवश नारी शोषण के इस स्वरूप को आज भी बहुत सी स्त्रियाँ अनुचित नहीं मानतीं। इस उपन्यास में भी बीदारोगिन कटुता व उलाहना मिश्रित स्वर में विलासपुर वाली से कहती है, ''हाँ ठीक है बस में बैठते ही बुर्का उतार फेंकना और दीदाफर जैसी चली जाना। भई तुम जानो और तुम्हारा काम। कल के दिन मुझे बदनाम न करवा देना कि मिर्जा के मरे दूसरा दिन भी नहीं हुआ और मैंने तुम्हें बेपरदा कर दिया।''[10]

आधुनिकता की अधकचरी चेतना और कच्ची पक्की समझ लिए कुछ-कुछ आधुनिक दिखने वाली शालिहा उर्फ सल्लो भी मेले में बुरका पहन कर ही दिखाई देती है लेकिन वह महसूस करती है कि वोहरा सम्प्रदाय की लड़कियों की तरह वह परदे के सख्त घेरे में नहीं है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मुस्लिम समाज में इस प्रथा से मुक्ति की बात सिर्फ कुछ लोग ही सोच सकते हैं, क्योंकि यह आज भी इस समाज में एक बड़ी चुनौती का रूप लिए हुए है। बहुत सी हिन्दू औरतें इससे मुक्त हैं किन्तु मुस्लिम औरतों को आज भी धार्मिक फतवों का शिकार होना पड़ता है। इस समस्या का चित्रण संकेत रूप में इस उपन्यास में मौजूद है।

पति-पत्नी के बीच समुचित सामंजस्य का अभाव, स्त्री और पुरुष के परिवारों के बीच आर्थिक वैषम्य, दोनों के बीच शैक्षिक स्तर में अन्तर, आयुवर्ग की दृष्टि से असमानता ऐसे ही अनेक लक्षण बेमेल विवाह के सूचक होते हैं। ये विवाह प्रायः लालच और मजबूरी के चलते कराये जाते हैं। दुर्भाग्यवश इन अनचाहे विवाहों को भारतीय समाज में समाधान के रूप में देखा जाता रहा है।

'काला जल' में शानी ने इस समस्या को हिन्दू-मुसलमान, दोनों ही वर्गों में दिखाया है। हिन्दू सम्प्रदाय में व्याप्त इस समस्या का एक नमूना सुनार और सुनारिन के प्रसंग को संदर्भित करते हुए इसी अध्याय में हम पहले दे चुके हैं। मिर्जा करामत बेग और विलासपुर वाली की शादी मुसलमानों में पाये जाने वाले अनमेल

विवाह का ही उदाहरण है। मिर्जा करामात बेग की आयु विलासपुर वाली की उम्र से काफी अधिक है, इस खतरे को शानी मिर्जा करामत बेग के जरिये इंगित करते हैं, ''अच्छा नहीं किया, यह मैंने बिल्कुल अच्छा नहीं किया जो तुम्हें अपने नसीब से घसीट लाया। मेरे मरने के बाद सबका बन जाएगा लेकिन तुम्हारा क्या होगा।''[11]

कभी-कभी ऐसे विवाह समाज में मिथ्या-प्रतिष्ठा और पिलपिले अहम के चलते भी होते हैं, जैसे मोहसिन की शादी, ''मेरे रिश्ते का पैगाम लेकर अम्मी रामपुर के एक बड़े घर में गई थी, पान-वान भी हो गए थे, लेकिन जब बारात गयी तो ऐन मौके पर उन्होंने रिश्ता देने से इन्कार कर दिया। बोले लड़का तो मैट्रिक भी पास नहीं है और प्राइमरी स्कूल का मास्टर है, उसे जितनी तनख्वाह मिलती है उतने की तो हमारी लड़की एक साड़ी पहनती है। अम्मी ने इस तरह नाक बचाई कि वहीं तड़ाक-पड़ाक कुछ लड़कियाँ देखीं, एक को पसंद किया, आनन-फानन पान हुए और लौट आए। जब शादी हुई और लड़की घर आई तो दुल्हन का मुँह देखकर लोग खुसर-फुसर करने लगे। जब मैंने देखा तो अम्मी से कहा कि क्या जी सारे रामपुर में मेरी तकदीर के लिए क्या यही लड़की रह गयी थी। अरे बेटे मेरी ही आँख फूट गयी, हमारी हड़बड़ी और जल्दबाजी का कुछ लोगों ने फायदा उठाकर हमें धोखा दिया। गाय कहकर हमारे पल्ले भैंस बाँध दी है।''[12] छोटी फूफी की हड़बड़ी और जल्दबाजी का कारण था, उनकी झूठी शान जिसे वे खाली हाथ बारात लौटाकर गंवाना नहीं चाहती थीं। लेकिन विडंबना है कि इस क्रम में खोने के नाम पर बच गए थे निर्दोष मोहसिन और उसकी पत्नी, जिन्हें अनचाहे संबंध को ढोना पड़ा। दोनों के संबंध अंत तक खराब ही रहे, एक तरफ पत्नी के रूप में एक नारी का शोषण तो दूसरी तरफ पति के रूप में एक पुरुष का क्षोभ। अनमेल विवाह आजतक भी हमारे समाज में एक ऐसा संक्रमण है जिसे दूर करने के लिए सामाजिक चुनौतियों से निपटने के साथ ही आर्थिक मोर्चे भी संभालने होंगे। समस्या के निदान के लिए शानी ने बगैर अपनी तरफ से कुछ कहे

पाठकों के विवेक पर छोड़ दिया है।

'काला जल' में पीड़ित नारी की व्यथा लगभग प्रत्येक परिवार में हमें अनायास ही अपने अनेक रूपों में देखने-सुनने को मिल सकती है। सुप्रीम कोर्ट की वरिष्ठ अधिवक्ता कमलेश जैन अपनी एक बातचीत में इस समस्या को गंभीर और विश्वस्तरीय मानती हैं। उनकी मानें तो पत्नी की पिटाई लगभग पूरी दुनिया में होती है, सामंतवादी इंग्लैण्ड में पहले यह कानून था कि पति अपनी पत्नी को पीट सकता है, उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकता है। यहाँ 'वॉयलेंस इन फैमिली' (1976) के लेखक सिडनी ब्रैंडन की बात को सार रूप में प्रस्तुत करना चाहूँगा कि आँकड़ों को देखें तो अंधेरा होने के बाद किसी स्त्री का सड़क पर अजनबी के साथ रहना घर में रहने की तुलना में अधिक सुरक्षित है। इसका कारण यह है कि घर में दुर्घटना व हत्या का खतरा ज्यादा है।[13]

रौशन फूफा छोटी फूफी को अपने पैर की जूती समझते हैं इसी तरह बब्बन की माँ अपने पति की डाँट-फटकार के साथ उसकी मार भी बर्दाश्त करती है। नारी की इस दुर्दशा की ओर इंगित करते हुए ही मुख्य न्यायाधीश देशपाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'वुमेन एण्ड द न्यू लॉ' (1984) में जो कुछ भी लिखा है वह अनुचित या अतिश्योक्ति नहीं है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि अब तक स्त्रयों के कर्तव्यों पर काफी जोर दिया जाता रहा है। पर समय आ गया है कि उनके अधिकारों की बात भी की जाए।[14]

उपन्यास में अधिकांश नारी पात्रों के शोषण और तिरस्कार का प्रधान कारण नारी का स्वावलंबी न होना तथा पुरुषों द्वारा स्वयं को श्रेष्ठ समझना है। यही कारण है कि बब्बन के पिता द्वारा एक बाजारू औरत से अवैध संबंध रखने की जानकारी होने पर भी बब्बन की अम्मी अपने प्रति हो रहे इस अन्याय का सक्रिय विरोध नहीं कर पाती। पति को समझाने और सही रास्ता दिखाने की नाकाम कोशिश में उन्हें शोषण और तिरस्कार के साथ-साथ गंदी गालियाँ भी झेलनी

पड़ती हैं। दुर्भाग्यवश समाज में ऐसी समस्याओं का आकार धीरे-धीरे विस्तार पा रहा है। 'काला जल' में निरूपित स्त्री संबंधी समस्याओं की स्थिति समाज में यथार्थतः अधिक वीभत्स और जटिल होती जा रही है। इस तरह की घटनाएँ बताती हैं कि विवाहित स्त्रियों पर पति एवं उसके रिश्तेदारों के अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं। उन्हें या आत्महत्या करनी पड़ती है या उनकी हत्या हो जाती हैं। बब्बन की निराश अम्मी विपरीत परिस्थितियों से टकराने अथवा उन्हें सुलझाने के लिए आवश्यक चेतना व सूझ-बूझ के अभाव में अपने पति से कुछ पाने और उसे सही रास्ते पर लाने की इच्छा से टोना, दुआ आदि का सहारा लेती है।

छोटी फूफी अन्दर से कुंठित और ऊपर से रोबीले व डरावने लगने वाले अपने पति से इतना अधिक डरी हुई हैं कि वह अपने लम्पट ससुर की शिकायत तक उनसे नहीं कर पाती। फूफी जानती है कि सारा का सारा दोष उसी के सिर मढ़ा जाएगा। सामाजिक विडंबना तो यह है कि जहाँ जीवनभर साथ निभाने के वादे के साथ वैवाहिक जीवन का आरंभ होता है, वहीं इस पवित्र संबंध को दृढ़ बनाए रखने के लिए जिस ज़रूरी और बुनियादी जड़, विश्वास की दरकार होती है वह अंत तक पनप ही नहीं पाती। इससे दाम्पत्य जीवन का खोखला होते जाना आश्चर्यजनक नहीं वरन् स्वाभाविक ही है। इच्छा के विरुद्ध परिस्थितियों में उलझकर शादी कर लेने अथवा हो जाने के बाद पति तो क्रोध में स्वयं को व्यक्त कर लेता है किन्तु नारी अपनी घुटन की अंधेरी गहराईयों में डूबती-उतराती रहती है। मोहसिन की पत्नी भी इसी दंश का शिकार है।

निश्चय ही पति-पत्नी के ऐसे संबंध स्वस्थ पारिवारिक संरचना के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति के नहीं माने जा सकते। दाम्पत्य संबंधों को स्नेहपूर्ण व सुदृढ़ बनाने हेतु दोनों में एक-दूसरे के प्रति आस्था व विश्वास का होना आवश्यक है, वरना पारिवारिक जीवन में वैसी ही कटुता घुल जाएगी जो 'काला जल' के प्रायः सभी परिवारों में व्याप्त है। पति-पत्नी के तनावपूर्ण संबंध होने से बच्चों पर क्या

असर होता है इसे शानी ने बब्बन की मानसिकता के चित्रण द्वारा अभिव्यक्त किया है।

भारतीय समाज में नारियों के पारिवारिक जीवन में कठिनाई उत्पन्न होने का एक कारण बहु-विवाह का प्रचलन भी है। एक पुरुष की दो या उससे अधिक पत्नियाँ होने के चलते स्त्री के अधिकारों का प्रश्न उभरकर आया। आधुनिक समय में कानूनी प्रावधानों के चलते यह समस्या हिन्दुओं में लगभग समाप्त होती जा रही है। मुस्लिम धर्म में यह समस्या कमोबेश आज भी मौजूद है। शानी ने इस सामाजिक समस्या को 'काला जल' के जरिये उठाया है।

मुस्लिम संस्कृति में बहुविवाह या कई पत्नियों का रिवाज़ दोष नहीं माना जाता बशर्ते पति को सभी पत्नियों के प्रति न्यायप्रिय होने के साथ ही उनके समुचित भरण-पोषण में समर्थ होना चाहिए। उसे अपनी समस्त पत्नियों के प्रति समता का व्यवहार करना चाहिए। इस्लाम धर्म में इस आशय का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, वहाँ आदेश है कि यदि भय हो कि इंसाफ नहीं कर सकोगे तो एक ही विवाह करो।[15]

सवाल है कि जिन बातों पर खास जोर देते हुए मुस्लिम समाज में बहुविवाह की आज्ञा प्राप्त है उन पर कितना ध्यान दिया जाता है 'काला जल' में मिर्जा करामत बेग एक पत्नी और बच्चे के बावजूद दूसरा विवाह विलासपुर वाली से कर लेते हैं। यद्यपि अपने पति की खोखली प्रतिष्ठा और शाख बचाए रखने की मंशा से बीदारोगिन ने ही उन्हें इसका मशविरा दिया था। बीदारोगिन दूसरे धर्म की होने के कारण मुस्लिम समाज में प्रचलित बहुविवाह की आज्ञा से संबद्ध आवश्यक शर्तों अथवा धार्मिक आदेशों के बारे में अनभिज्ञ हो, किन्तु मिर्जा को इस संदर्भ में सोचना चाहिए था। ज़ाहिर है पुरुषवादी मानसिकता और पितृसत्तात्मक वर्चस्व के चलते धार्मिक प्रावधानों और अनुसंधाओं की व्याख्याएँ निरंतर विकृत होती रही हैं। शायद तथाकथित सुशिक्षित धर्माचार्यों द्वारा समय-समय पर होने वाली गलत बयानी

का खामियाजा आम जनता को ही भुगतना पड़ता है। इसी कारण मिर्जा ने बिना कुछ सोचे समझे एक अच्छी पत्नी होने के बाद भी दूसरी शादी कर ली। क्या उन्हें अपनी हैशियत का अंदाजा नहीं था? क्या वे निकाह करने से पहले इसका समाधान ढूंढ चुके थे कि वे किसी भी पत्नी के साथ न-इंसाफी नहीं करेंगे। जाहिर है कि ऐसा करना सामाजिक और पारिवारिक जरूरतों और सीमाओं को नज़र अंदाज कर स्वच्छंदता की चाह का सूचक है। मिर्जा पहली पत्नी द्वारा दूसरी पत्नी पर किये जा रहे अत्याचार को रोक नहीं पाते, 'बिलासपुर वाली' पत्नी बनकर भी मिर्जा से सहचर्य सुख नहीं प्राप्त कर सकी। सच्चे स्नेह के स्थान पर अपनी काम पिपासा के चलते बाद में मिर्जा अपनी दूसरी पत्नी यानी बिलासपुर वाली को भी तरजीह देने लगते हैं। अन्ततः मिर्जा अपने पीछे दो-दो पत्नियाँ छोड़कर स्वर्गवासी हो जाते हैं। यहाँ बहुविवाह का एक और नकारात्मक पहलू नज़र आता है। पति की मृत्यु के बाद बहुविवाह के रिवाज से सम्पन्न हुए विवाह द्वारा जो औरते इस बंधन में बंध जाती है। उनका हस्र बीदारोगिन और विलासपुर वाली जैसा ही होता है। शानी ने इन सब पहलुओं पर अपनी पैनी दृष्टि का परिचय दिया है। हिन्दी के कुछ उपन्यासों में इस प्रथा को प्रोत्साहन दिया गया है। भवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में दिखाया है कि महालक्ष्मी का पति उमानाथ किसी ब्रिटिश महिला से शादी करना चाहता है; महालक्ष्मी अपने पति की इस अनुचित इच्छा का न केवल सम्मान करती है, वरन् उसे विश्वास भी दिलाती है कि यदि वह (संभावित पत्नी) कोई पड़ताल करे तो आप मेरा परिचय घर की नौकरानी के रूप में दीजिएगा। आप का सुख मेरा सुख होगा मुझे इसमें कतई एतराज नहीं है। स्पष्ट है कि यह प्रसंग नारी की भावुकता तथा एकतरफा प्रेम का सूचक है। उमानाथ जैसे पुरुषों में भी आधुनिकता के प्रसार के बावजूद भी स्त्री संबंधी विचारों को लेकर कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ पाता। नारी विषयक ऐसे नकारात्मक विचार रखने वाले कुछ अपवादों को छोड़कर प्रेमचंद युग तथा

उसके बाद जहाँ भी इस तरह के प्रसंग आते हैं, प्रायः कथाकार इस कुप्रथा का पोषण व समर्थन नहीं करते। आगे चलकर बहुविवाह कानूनी तौर पर निषिद्ध कर दिया गया किन्तु दुर्भाग्यवश आज भी सम्प्रदाय विशेष में यह सामाजिक समस्या कमोबेश जीवित है।

स्वाधीनता से पहले स्त्री आंदोलन को लेकर जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं उसके पीछे स्त्री शिक्षा की प्रमुख भूमिका रही। स्त्री शिक्षा से जुड़े प्रश्न को लेकर सनातनी तथा आधुनिक चेतना से सम्पन्न विचारकों व समाजसुधारकों में पर्याप्त मतभेद दिखाई दिए। परंपरा से आगे न बढ़ सकने वाले लोग या तो स्त्री शिक्षा की महत्ता पर ही प्रश्नचिन्ह लगाते हैं या फिर स्त्रियों को पुरुषों के अधीन मानकर एक सीमा में ही उसे छूट देने की वकालत करते हैं। प्रगतिशील विचारधारा से जुड़े लोगों ने परिवर्तनशील आधुनिक समाज में नारी को उतना ही अहम समझा, जितना कि सदियों से पुरुष स्वयं को समझता आ रहा था। इस क्रम में आधुनिक चेतना से युक्त एक वर्ग ने लड़कियों को स्कूल-कॉलेज भेजना शुरू किया।

शानी ने जहाँ एक ओर रसूल मियाँ की पढ़ी-लिखी बेटी को ग्राम सेविका के रूप में चित्रित किया है वहीं दूसरी ओर उसी के बरक्स बीच में ही पढ़ाई छुड़वाकर घर बिठा दी गई रुबिया को भी प्रस्तुत किया है। सामाजिक परिवर्तन के इस दौर में भी रुबिया इस अधिकार की मांग नहीं कर पाती। क्या ये शेष रह गई परंपरानुगामिता के चिह्न नहीं हैं जो आज भी हमारे समाज में परिवर्तन और प्रगति के मार्ग में अवरोध साबित हो रहे हैं? हिन्दी के अनेक उपन्यासों में नारी दुर्दशा का जो चित्रण मिलता है। प्रायः सभी स्थानों पर यह पाया गया कि नारी स्वयं ही अपने अधिकारों से अन्जान है। स्त्री शोषण और अपने अधिकारों से जुड़ी चेतना की रिक्तता का मूल कारण स्त्री शिक्षा के अभाव को ही समझना चाहिए। शायद इसी के चलते स्त्रियाँ समय-समय पर 'बलि का बकरा' बनती रही हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् भी रुबिया जैसी लड़कियों का अशिक्षित रह जाना

तथाकथित विकास की अवधारणा पर प्रश्नचिन्ह जैसा है। इसे कैसे दूर किया जाए? यह आज भी किसी विकासशील राष्ट्र के लिए बड़ी चुनौती है। 'काला जल' में सल्लो आपा कुछ कुछ आधुनिक व स्वतंत्र विचार रखने वाली युवती प्रतीत होती है, लेकिन उसका त्रासद अंत हमें यह मानने को मजबूर करता है कि इसके पीछे भी समुचित शिक्षा का अभाव है यदि सालिहा शिक्षित होती तो शायद समाज से अपने अधिकारों के लिए संघर्ष का रास्ता चुनती, उसे परिवार जनों के आश्रित रहकर यूँ प्राण न गंवाने पड़ते लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

स्त्री शोषण और उत्पीड़न से जुड़े जितने भी स्तरों को साधारणत: हम जानते समझते हैं उनमें से अधिकांश शानी की दृष्टि परिधि में रहे हैं। पारिवारिक कटुता और मारपीट के अलावा, अनुचित यौन संबंध (Voilent Sex) 'काला जल' में गंभीर समस्या के रूप में संकेतित हुए हैं। बेहतर सामाजिक मानसिकता और विकास की मुख्यधारा से जुड़ने के किसी एक वर्ग विशेष के लिए जो मूल्य चेतना अपेक्षित है, 'काला जल' में उसका सर्वथा अभाव झलकता है।

अन्य आँचलिक उपन्यासों की तरह काला जल में काम संबंधों की बाढ़ सी नज़र तो नहीं आती किन्तु इससे जुड़े तीन-चार दर्दनाक प्रसंग अवश्य मिलते हैं। मालती को पुत्री की तरह पालने के बाद भी रज्जू मियाँ उससे शारीरिक संबंध बनाते हैं। रशीदा को बिलानागा पाँचो वक्त की नमाज पढ़ने वाले अपने चाचा की हबस का शिकार बनना पड़ता है। छोटी फूफी अपने लम्पट ससुर रज्जू मियाँ से सशंकित रहती है। समाज की मुख्यधारा से कटी ऐसी औरतें भी हैं जहाँ जाकर बब्बन के पिता जैसे लोग अपनी अनुचित तथा अनियंत्रित यौन कुण्ठाओं की तृप्ति अवैध संबंधों के जरिए करते हैं, साथ ही अपना यौवन और सम्पत्ति दोनों ही स्वाहा कर देते हैं। इन गंभीर समस्याओं की जड़ में हमारी सामाजिक व्यवस्था में घर कर चुके हासोन्मुख सामंती मानसिकता का नकारात्मक योगदान ही मानना चाहिए। स्त्रियाँ इस कुचक्र व षड्यंत्र का शिकार लगातार होती रही हैं। रज्जू मियाँ

और मालती के बीच बनने वाले संबंधों से जुड़ा दोष यदि सामूहिक मान लिया जाए तो उसका नकारात्मक परिणाम भुगतने के नाम पर अकेली मालती ही रह जाती है। रशीदा की मुक्ति भी इस पीड़ा से उसकी त्रासद मृत्यु के बाद ही हो पाती है। फूफी आजीवन अपने पति से भयभीत रहती है, ससुर से अपनी सुरक्षा को लेकर वे रौशन फूफा से कभी बात तक नहीं कर पाती। उपन्यास में शानी ने वैश्याओं का स्पष्ट उल्लेख न कर संकेत भर दे दिया है। लम्पट और बहशी पुरुषों को तृत्प करने के बदले उनकी पत्नियों द्वारा वैश्याओं को घृणा और बद्दुआओं के सिवा और क्या मिलता है। यह विडंबना उपन्यास में बब्बन की माँ के जरिये शानी ने रेखांकित की है। मनोवैज्ञानिक चिंतन के फार्मूलों में मिसफिट सैक्स संबंधी समस्याओं को शानी ने जटिल सामाजिक विकृति के रूप में प्रस्तुत किया है। यह समस्या आज भी कमोबेश जहाँ-तहाँ देखने सुनने में आ जाती है।

अंर्तजातीय अथवा अंर्तधार्मिक विवाह अनेक रुढ़ियों के टूटने तथा समाज में सकारात्मक समझ बढ़ने के चलते कुछ सीमा तक अब देखने में आने लगे हैं। किन्तु आज भी बड़े पैमाने पर स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। 'काला जल' में बड़ी ईमानदारी से शानी ने इस समस्या को रूपायित किया है। उपलब्ध सामाजिक व्यवस्था में मिर्जा करामत बेग एक हिन्दू लड़की से शादी करता है तो उसे उन भीषण परिस्थितियों का सामना नहीं करना पड़ता जिन कठिन परिस्थितियों से सालिहा को गुजरना पड़ता है। वह एक लड़के से शादी कर लेती है जो संभवत: उनकी बिरादरी से अलग है। यद्यपि उपन्यास में सल्लो आपा की शादी से जुड़ा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता तथापि संकेत रूप में छोटी फूफी का यह कथन उनके विवाह की सूचना देता है, ''मेरे लाख मना करने, गालियाँ बकने, कई बार मारने-पीटने पर भी उसने मांग में अफशां भरना कभी नहीं छोड़ा था।''[16] अजीब विडंबना है कि जहाँ मिर्जा करामत बेग न केवल एक हिन्दू लड़की से विवाह करते हैं बल्कि उन्हें संतान सुख भी मिलता है। वहीं दूसरी तरफ उसी

समाज की एक लड़की (सालिहा) गोपनीय ढंग से अपने विवाह को अंजाम देती हैं वह अपने बेटे को इस दुनियाँ में नहीं ला पाती क्योंकि परिवार और समाज उसे मान्यता नहीं देगा। इसी कारण अस्पताल जाने की अपेक्षा सल्लो आपा घर पर उल्टियाँ करते-करते दम तोड़ देती है। शानी इस गंभीर तथा विशिष्ट चिंता के चलते सैक्स की समस्या को मनोविज्ञान की चहारदीवारी से मुक्त कर व्यापक सामाजिक समस्या के रूप में देखते हैं।

विधवा स्त्री का अत्यधिक शोषण भारतीय समाज का सदियों पुराना घृणित यथार्थ रहा है। यह सामाजिक दोष हिन्दुओं के यहाँ अधिक पाया जाता है। शरीर से जर्जर, मुख से मलिन, हृदय से चकनाचूर, नेत्रों से निराश भाग्याधीन विधवा प्रायः प्रत्येक संयुक्त परिवार के रसोईघर या अन्य परिश्रम साध्य कार्यों में लगी हुई मिल जाएगी।

कहने की जरूरत नहीं कि एक विधवा का पारिवारिक जीवन अत्यंत दुखद होने के साथ ही परिवार में उसकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं होती। घर के अधिकांश कठिन कार्यों का बोझ उसी पर लाद दिया जाता है, उसके किसी परामर्श या विचार की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। परिवार में मांगलिक अवसरों से उसे वंचित कर दिया जाता है।

मुस्लिम समाज में विधवाओं से जुड़े ऐसे कठोर नियंत्रण देखने को नहीं मिलते। अरब में विधवा विवाह प्राचीन काल से ही मान्य रहा है। मुहम्मद साहब ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। उनकी एक पत्नी के अलावा सभी पत्नियाँ विधवाएँ ही थी, अर्थात् मुहम्मद साहब के साथ उनका विवाह हुआ था। आज तक भी मुसलमानों के यहाँ विधवा विवाह आसानी से होते आ रहे हैं।

बिट्टी रवताइन धर्मांतरित होने के कारण ही विधवा होने के बाद भी रज्जू मियां से दूसरा विवाह बिना किसी खास परेशानी के कर लेती है लेकिन ऐसी

विधवा जिसके पहले विवाह से उत्पन्न बच्चे हों, उनके रहते अपनी इच्छा से दूसरा निकाह करती है तो इसका नकारात्मक प्रभाव किशोर बच्चो के विकासशील मन पर पड़ता है। शानी ने समाज में आंशिक रूप से बढ़ रही इस समस्या को बड़ी बारीकी के साथ प्रस्तुत किया है। विधवाओं के पुनर्वास और संतोषजनक जीवन के लिए जहाँ एक ओर यह विवाह आवश्यक है वहीं बच्चों के रहते ऐसे विवाह जाने अनजाने जिन गंभीर समस्याओं का कारण बन सकते हैं, रौशन के जरिये इन समस्याओं के संकेत उपन्यास में मौजूद है। रौशन के स्वभाव में आए परिवर्तन, यौन कुण्ठाओं का जन्म, घुटन का अहसास, अनावश्यक चुप्पी तथा रज्जू मियाँ को अपने पिता के रूप में स्वीकार न कर पाने की समस्या का मुख्य कारण यही है। फिर भी इससे बीदारोगिन के दूसरे दाम्पत्य जीवन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। देखा जाए तो मुस्लिम समाज में विधवाओं से जुड़ी समस्या धार्मिक दृष्टि से ज्यादा पेचीदा नहीं है, लेकिन सामाजिक स्तर पर यह अवश्य ही चिंताजनक है। विधवा होने के नाते लोगों द्वारा किये जानेवाले नाना प्रकार के संदेहों से घिर जाना, बेटे से तिरस्कार भाव मिलना तथा आर्थिक समस्या आदि से छोटी फूफी लगातार जूझ रही है। पति का आश्रय मुस्लिम नारी के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना कि किसी हिन्दू स्त्री के लिए। रज्जू मियाँ अपनी बहू पर लांछन लगाते हुए उसे अपमानित करने के लिए कहते हैं, ''खसम क्या मर गया इसकी तो बन आयी, दिन दहाड़े आदमी घुसे रहते हैं।'' छोटी फूफी के जरिये समाज में व्यथित विधवा स्त्री की करूणा को उभारकर शानी आज भी हमें सामाजिक स्वास्थ्य की तटस्थ पड़ताल के लिए विवश करते हैं। छोटी फूफी का दर्द यहाँ फूट पड़ता है, ''अरे बात क्या होगी सौ बात की एक बात ही है कि रण्डापा बुरा होता है। सिर की छत हट जाए तो धूप ही लगती है और छींटे भी पड़ते हैं, लेकिन बताओ मैं क्या करूँ? बेटा सीधे मुँह बोलता नहीं, बहू से मिजाज़ नहीं मिलते अब कोई आदमी आकर दो घड़ी बैठ जाए तो उससे भी बात न करूँ।''[17]

मुस्लिमों के यहाँ बहू-विवाह की भाँति तलाक भी मान्य है। परिस्थिति विशेष में ही तलाक जैसी विवाह विच्छेदक प्रक्रिया का प्रावधान स्वीकृत है। किन्तु, पुरुष के स्वेच्छाचार से पीड़ित वर्चस्व से दबी स्त्रियाँ पिछड़ेपन के कारण इस विधान और इससे जुड़ी सही व्याख्या से पूर्णरूपेण आज भी अवगत नहीं हैं।

शानी ने स्पष्ट रूप से तलाक की समस्या को 'काला जल' में नहीं उकेरा है। उपन्यास की कथ्यगत सीमा के मद्देनज़र यह लाज़िमी भी है किन्तु शानी ने यह साफ़तौर पर दिखाया है कि आधुनिक युग में भी स्त्रियाँ विवश और पति से डरी हुई हैं। छोटी फूफी का रौशन फूफा से भय, बब्बन की माँ पर उसके पति का आतंक तथा भाभी के प्रति मोहसिन की उपेक्षा सभी विपरीत परिस्थितियों के सम्मुख घुटने टेक चुपचाप समय के साथ रेंगती रहती हैं। दरअसल पूरी तरह से परिवार विशेष रूप से पति पर आश्रित होने तथा आत्मनिर्भरता के लिए आवश्यक हुनर के अभाव एवम् अशिक्षा के चलते आत्मविश्वास की कमी और अपने अस्तित्व से जुड़ी अज्ञानता के कारण ये स्त्रियाँ लगातार उपन्यास में प्रतिबिम्बित अनेक पीड़ाओं के साथ ही तालक की परोक्ष लटकती तलवार से अन्दर ही अन्दर त्रस्त नजर आती हैं।

'काला जल' का कथानक अपने औपन्यासिक कलेवर में लगभग 1910 के आसपास से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ पश्चात् तक की समयावधि तक फैला हुआ है। भारतीय इतिहास में यह दौर स्वाधीनता की चेतना और उसके विकास का काल रहा है। यद्यपि शानी ने स्वतंत्रता आंदोलन या फिर उससे जुड़ी राजनीति को केन्द्र बनाकर काला जल की रचना नहीं की थी किन्तु प्रसंगवश इस उपन्यास में वर्णित क्षेत्र बस्तर और जगदलपुर जैसे पिछड़े अंचलों में इसका जैसा स्वरूप देखने को मिलता है, आगे हम उसे ही समझने का प्रयास करेंगे।

'काला जल' में उपलब्ध उन्नीस सौ दस के आसपास का आदिवासी जनता का विद्रोह आम आदमी के हृदय में पनप रही साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं का

एक उदाहरण है, ''कैसा बलवा था कि बस्तर के मुट्ठी भर नंगे, भूखे, जाहिल और तीर कमान वाले आदिवासियों ने अंग्रेजी शासन के छक्के छुड़ा दिये।''[18] भारत में अपनी जड़े जमा चुकी साम्राज्यवादी शक्ति अपने महत्वाकांक्षी उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु नैतिक प्रयास तथा भय और प्रलोभन सरीखे षड्यंत्रों के सहारे गुलाम भारतीय लोगों में से ही कुछ लोगों को उनसे अलग कर शोषण और दोहन के लिए अपनी ओर मिलाए गए लोगों को हथियार के रूप में इस्तेमाल कर रही थी। इसी कारण विद्रोह के दौरान अंग्रेज तमाशबीनों की तरह अपना ध्येय इन्हीं जरखरीद गुलामों के जरिये पूरा करते थे। उपन्यास के इस अंश में स्पष्ट है कि इस विद्रोह में छोटे-मोटे अधिकारी और कर्मचारी भी हिंसा का ग्रास बनते हैं, क्योंकि ये अधिकारी और कर्मचारी ही सीधे तौर पर आदिवासियों को प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग से वंचित कर रहे थे।

साम्राज्यवादी शोषण से आम आदमी त्रस्त है फिर भी घर की दीवारों पर जॉर्ज पंचम, जॉर्ज अष्टम आदि अभारतीय शासकों की तस्वीरें लगाकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा और सेवा भाव को प्रकट करते हैं। अंग्रेजी शासन या उसके द्वारा अपने अधीनस्थों को दी गई शक्ति के दुरुपयोग का ही परिणाम है कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक बस्तर पहुँचे मिर्जा करामत बेग उस वक्त को सस्ते का जमाना कहते हैं लेकिन कुछ समय बाद ही आसमान छूती महंगाई उनकी बेवा बिट्टी रवताइन की कमर तोड़ देती है। इस तरह बस्तर के परिप्रेक्ष्य में शानी ने आदि से अंत तक विदेशी शक्तियों के कुचक्र में पिस रही आम जनता की दशा का चित्रण करते हुए उपरोक्त विद्रोह को शोषण के विरूद्ध संघर्ष के प्रतीक स्वरूप रेखांकित किया है।

मुगल शासन के कमजोर पड़ते ही देश अनेक रियासती टुकड़ों में बिखरने लगा तथा किसी केन्द्रिय शक्ति के अभाव में सुचारू व्यवस्था का लगभग अंत हो गया। ऐतिहासिक साक्ष्य है कि 1885 से 1905 ई. सन के बीच का काल भारतीय

राष्ट्रवाद के बीजवपन का काल रहा। यथार्थतः उस समय पनपी यह राष्ट्रीय भावना अंग्रेजी शासन से मुक्ति की न होकर उनसे कुछ राजनीतिक, आर्थिक माँगों को मनवाने पर अधिक केन्द्रित थी।[19] दूसरे शब्दों में उग्र अथवा तीव्र राष्ट्रवादी भावना का उदय न हो पाने के कारण उपरोक्त राष्ट्रीयता महज कोरा आलाप बनकर रह गई थी। समाज के बुद्धिजीवी वर्ग से जुड़े लोग जैसे, वकील, पत्रकार, व्यापारी, उद्योगपति, ज़मींदार अपने स्वार्थ साधन के लिए इसका इस्तेमाल कर रहे थे।

शानी ने स्पष्ट रूप से उपन्यास में इसका कोई उल्लेख नहीं किया है, लेकिन सुषुप्त भारतीय जनमानस को उपन्यास के प्रथम खण्ड में अवश्य उकेरा है। आदिवासी विद्रोह की असफलता के पीछे राष्ट्रीय चेतना के अभाव के साथ ही केन्द्रीय नेतृत्व का अभाव तथा विद्रोह से जुड़ी सही दिशा न होने जैसे कारणों को जिम्मेदार माना जा सकता है। प्रबुद्ध वर्ग स्वतंत्रता संग्राम के आरम्भिक चरण में राष्ट्रीय हित को अपने वर्ग हित तक ही सीमित किये हुए था।

महात्मा गाँधी के आगमन से देश में राष्ट्रीय भावना का प्रसार तीव्र हो जाता है। स्वयं गांधी जी तथा अन्य दूरदर्शी नेताओं का विचार था कि राष्ट्रीयता की इस धारा में गाँव को जोड़े बगैर लक्ष्य सिद्धि असंभव है। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने नेतृत्वकर्त्ताओं से गाँवों में जाकर ग्रामीणों के बीच राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करने को कहा। 'काला जल' में पीसी नायडू इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है।

जगदलपुर की स्थिति यह है कि नायडू और मोहसिन के तमाम प्रयत्नों के बाद भी लोग इससे जुड़ने और बरसों पुरानी गुलामी के बोझ तले दबे जीवन को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। वे मिस्टर नायडू की बात तो सुनते थे लेकिन देश की खातिर कुर्बानी नहीं दे सकते थे। युवा शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हुए मोहसिन आगे आता है, स्वतंत्रता संग्राम में युवा ही उस शक्ति का प्रतीक था जो राष्ट्र के लिए अपने जीवन को निर्द्वन्द्व भाव से चुनौतियों के हवाले कर सकता था। इस तरह सुदूर क्षेत्र बस्तर और जगदलपुर में स्वतंत्रता पूर्व राष्ट्रीय भावना किस गति

से आगे बढ़ती है, इसका आभास हमें काला जल में मिलता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ, यानी 1906 के आसपास पढ़े-लिखे उच्च वर्गीय मुसलमानों की माँग के चलते 'मुस्लिम लीग' की स्थापना हुई।[20] 'मुस्लिम लीग' सिर्फ मुसलमानों के राजनैतिक, सामाजिक हक और हितों को केन्द्रीय मानकर आगे बढ़ रही थी। 'मुस्लिम लीग' और कांग्रेस के बीच दलगत विभाजन एवं राजनीतिक सामंजस्य के अभाव की चुनौतियों के बाद भी स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम दौर तक कांग्रेस का वर्चस्व कायम रहा जिसमें विभिन्न जातियों, समुदायों व धर्मों के लोग शामिल थे।

'काला जल' के द्वितीय खण्ड में स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम दौर की झलक मिलती है। उस समय तक भारतवर्ष के कोने-कोने में सुदूर अंचलों तक फैले ग्रामीण स्तर पर भी स्वतंत्रता की मांग की जाने लगी थी। पी.सी. नायडू बस्तर में ऐसे ही एक कांग्रेसी है जो अपने घर और दुकान पर कांग्रेसी नेताओं की तस्वीरें चस्पा किये हुए हैं। मिस्टर नायडू स्वतंत्रता से जुड़े इस देश व्यापी आंदोलन को बस्तर में भी फलते-फूलते और सफल होते देखना चाहते हैं। लेकिन वहाँ की जनता की उदासीनता और असहयोग से क्षुब्ध है, ''इस बस्ती को मैं बीस बरस से जानता हूँ। अवसरवादी और स्वार्थी हर जगह होते हैं लेकिन यहाँ तो मुर्दे और बेपानी के लोग बसते हैं। हर आदमी अपने ही घुटनो में मुँह छिपाए बैठा है, दूसरे किसी से कोई मतलब नहीं।''[21] निराशाजनक परिणामों से दुखी होकर भी नायडू अपने प्रयास में लगे रहते हैं, यहाँ तक कि स्थितियाँ इतनी विपरीत हो जाती हैं कि नायडू अंतत: विक्षिप्त से हो जाते है फिर भी बस्तर की आम जनता इस राष्ट्रव्यापी आंदोलन से नहीं जुड़ पाती।

स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम दौर में सत्ता पक्ष और उससे जुड़े लोगों ने कांग्रेस को अपने शत्रु के रूप में देखना आरम्भ कर दिया था। यूनियन जैक को सलामी न देने और उसे नष्ट करने संबंधी आरोप के चलते अंग्रेजी सरकार के नुमाइंदे के

रूप में रौशन फूफा अपने बेटे मोहसिन को मारते हुए कहते हैं, ''कांग्रेसी बनेंगे, जिसका नमक खाते हैं उसी के साथ नमक हरामी करेंगे।'' निश्चित रूप से उस समय तक कांग्रेस देशव्यापी प्रभाव अर्जित कर चुकी थी और अंग्रेजी शासनतंत्र के लिए चुनौती साबित हो रही थी।

दादाभाई नौरोजी के साथ ही उस समय के अन्य नेताओं के विचार कांग्रेस की गतिविधियों और उसके कार्यक्रमों को लेकर बहुत साफ थे। उनकी राय में कांग्रेस धार्मिक तथा सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी, वह सिर्फ राजनीतिक मुद्दों को उठायेगी, लेकिन समय के साथ धीरे-धीरे ये सीमाएँ क्षीण होती गईं। 'काला जल' में पी.सी. नायडू धार्मिक प्रसंगों के माध्यम से बस्तर की जनता में राजनीतिक चेतना का प्रसार करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि कोई धार्मिक विद्वान यहाँ आकर बस्तर के मुर्दों को जगाये। कछुआ रफ्तार से धीरे-धीरे सरकती हुई जिन्दगी की अभ्यस्त वहाँ की जनता 'वाणी विलास' के प्रवचन अभिधा के रूप में ग्रहण करती है। चूंकि वहाँ के लोग धर्म, समाज और राजनीति के जटिल व्यापारों और अंत: संबंधों से अपरिचित हैं। इसी कारण राजनीति में धर्म की घुसपैठ से परिवर्तित संदर्भों की व्याख्या या पाठान्तर वे नहीं कर पाते। पूरे प्रवचन के दौरान जोरदार तालियाँ पीटते हैं, लेकिन जब एक दिन 'वाणी विलास' उनसे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति आस्था न रखने का स्पष्ट आग्रह करते हैं तो मिस्टर नायडू, मोहसिन तथा अन्य दो चार लोगों के बे-अख्तियार तालियाँ पीटने के अलावा सभी शांत बने रहते हैं। इस अंश में शानी ने धर्म और राजनीति के मध्य विकसित होने वाले सूक्ष्म संबंधों के साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि ऐसे संकेतों को पकड़ने वाले लोगों की संख्या कमतर है।

1942 के भारत छोड़ो संकल्प की कांग्रेसी उद्घोषणा के अन्तिम परिच्छेद में स्पष्ट किया गया कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति सभी संबंधित व्यक्तियों पर यह बात स्पष्ट कर देना चाहती है कि सार्वजनिक संघर्ष का यह बीड़ा उठाकर

कांग्रेस का सत्ता हथियाने का कोई इरादा नहीं है। जब शक्ति और सत्ता आयेगी तो वह सभी भारतीयों की होगी, किन्तु स्वराज मिलते ही ये संकल्प छिन्न-भिन्न हो गये, कांग्रेस का रूप बदलने लगा। गांधी जी की इच्छा थी कि स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस एक समाज सेवी संगठन के रूप में काम करे। दुर्भाग्यवश गांधी जी का यह सपना ठोस आकार लेने से पहले ही ध्वस्त हो गया।

स्वतंत्र भारत में जनतांत्रिक विकास के लिए जो परिपक्वता अपेक्षित थी वह प्रायः ह्रासोन्मुख ही रही। नये सशक्त राजनीतिक दलों के अभाव तथा अपनी पुरानी साख के चलते स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी कांग्रेस सबसे बड़ी और लोकप्रिय पार्टी बनी रही। सशक्त विपक्ष के अभाव में किस तरह कांग्रेस ने अपना स्वरूप बदल लिया और राजनीतिक विसंगतियों का केन्द्र बन गई इसका संकेत शानी ने 'काला जल' में कर दिया है।

नायडू स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कांग्रेस का एक कर्मठ कार्यकर्त्ता है किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उसे क्या मिला, दुख, संताप, टूटन, बेचैनी और पागलपन। वे लोग स्वतंत्र भारत के भाग्यविधाता बन गये जो रात के अंधेरे में लुक छिपकर नायडू से मिलने जाया करते थे। क्योंकि अपनी नौकरी अथवा इसी तरह का कोई दूसरा लाभ गंवा देने का उन्हें डर था। आजादी के बाद भारतीय राजनीति में आयी गिरावट के लिये कांग्रेस मुख्य रूप से जिम्मेदार है क्योंकि वही एकमात्र बड़े और लोकप्रिय राजनीतिक दल के रूप में उभरी। उसका दायित्व था राजनीति में मौका परस्त लोगों को स्थान देने की अपेक्षा नायडू जैसे लोगों को अहमियत देती। कांग्रेस की इस राजनीतिक भूल पर शानी ने तीखा प्रहार किया है।

'गांधी टोपी' त्याग और बलिदान की सूचक होने के बजाय अपने पाप धोने का एक जरिया बन गयी है। इसका वर्णन करते हुए मोहसिन के शब्दों में शानी कहते हैं, ''सन् सैतालीस के पन्द्रह अगस्त के बाद से वैसे लोगों की बाढ़ आ गयी है। हर ईमानदार आदमी या तो उनपर हँसता है या अपना ही माथा पीट लेता

है। बताओ क्या यह रोने का मुकाम नहीं कि सचमुच त्याग और बलिदान के अवसर पर जो नौकरी या नकली प्रतिष्ठा की आड़ लिये सिर छिपाये बैठे थे वे आदमी टोपी ओढ़कर पाप धो बैठे और आज नेता सरपरस्त तथा देशभक्त हैं और मिनटों में हम लोगों का भाग्य बना बिगाड़ सकते हैं।''[22] सम्पूर्ण देश में शीघ्रता से परिवर्तित होने वाले राजनीतिक परिवेश को समग्रतः एक उपन्यास में चित्रित नहीं किया जा सकता। फिर भी शानी ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनीतिक स्तर में आयी गिरावट को रेखांकित करते हुए बताने की कोशिश की है आज आजादी के तमाम सालों बाद भी क्यों हम अमन चैन की जिन्दगी नहीं जी पा रहे हैं? लोकतंत्र में नेता जनता के प्रतिनिधि और सेवक कहलाते हैं, किन्तु आज सेवा का बाना धारण किये ऐसे भक्षकों की बाढ़ सी आ गयी है जो देश को खोखला करने के लिए रात-दिन एक किये हुए हैं। यही कारण है कि इस आजादी से हताश मोहसिन जैसा कोई भी युवा यह कहने पर मजबूर हो जाता है कि आज सोचने पर हँसी आती है कि क्यों हम इस देश का उद्धार करने चले थे। मोहसिन जैसा कोई भी ईमानदार और राष्ट्रभक्त युवा व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों से क्षुब्ध होकर एक क्षण के लिए इस विचार को अपना सकता है।

(ख) असुरक्षाबोध, क्षोभ और कुन्ठा

शानी के काला जल में रूपायित समस्याओं के विभिन्न स्वरूपों में से एक असुरक्षा बोध, क्षोभ, कुन्ठा, टूटन और बेबसी को भी उजागर करता है। आगे हम उपन्यास के जरिये इन्हीं बिन्दुओं को खंगालने का प्रयास करेंगे।

शानी ने 'काला जल' में सांकेतिक ढंग से दिखाया है कि किस प्रकार धीरे-धीरे सामंती व्यवस्था पतन की ओर अग्रसर है। भारत में सामंती व्यवस्था का लोप अंग्रजों के उपनिवेशवादी शोषण के विस्तार के कारण होता जा रहा था। भूमि को क्रय-विक्रय की वस्तु बनाकर अंग्रेज अधिकाधिक धन उगाही की अपनी योजना में सफल हुये। सामंतवर्ग अब जमीनदारों की श्रेणी में रूपांतरित हो कृषकों

से अधिक से अधिक लगान वसूल कर अंग्रजों तक पहुँचाने और कृपापात्र बनने की होड़ में व्यस्त था। इतना सब करने के बाद भी किन्हीं विपरीत परिस्थितियों अथवा कारणों के चलते यदि लगान समय पर न जमा किया गया तो उनकी ज़मीनदारी छिन जाने का खतरा लगातार सिर पर मंडराता रहता था। तत्कालीन भूमि व्यवस्था और ज़मीन पर बढ़ते लगान से कृषक धीरे-धीरे गरीब से गरीबतर होता जा रहा था।

भारतीय ग्राम व्यवस्था के साथ ही सामंती सभ्यता धीरे-धीरे कमजोर पड़ी और साम्राज्यवादी शक्तियों के निर्देशन में पूँजीवादी विचारधारा का उदय हुआ। प्रेमचंद ने प्रकारान्तर से इसे 'महाजनी सभ्यता' (1925) के रूप में रेखांकित किया है। काला जल में बब्बन और मोहसिन दोनों के परिवार इसी महाजनी शोषण का शिकार हुए दिखते हैं। उपन्यास में चित्रित 1910 का आदिवासी विद्रोह इसी शोषण के विरोध में हुआ था। इसका वर्णन विस्तार से 'काला जल' में है।

'महाजनी सभ्यता' की उपज विकृत मानसिकता के चलते किस तरह इससे जुड़े लोग, लोगों की दयनीय स्थिति और विवशता का अनुचित लाभ उठाते हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण वह महाजन है जिसके पास बब्बन के पिता पैसे की जरूरत होने पर पहुँचते हैं। बब्बन के पिता अपने ऊपर चढ़े साढ़े चार सौ रुपये की अदायगी के लिए अन्यत्र व्यवस्था न हो पाने की स्थिति में अपने पुश्तैनी मकान को बेच देने का निर्णय लेते हैं। घर खरीदने वाला आदमी स्थिति को भाँप कर बिल्कुल ही अनुचित कीमत तय करता है और बब्बन के पिता की विवशता का लाभ उठाकर औने-पौने दामों पर वह मकान खरीद लेता है। उपन्यास के किसी भी स्थल पर शानी ने महाजन या महाजनी सभ्यता जैसे शब्द का इस्तेमाल नहीं किया है किन्तु कथानक में पिरोयी घटनाओं के जरिये इस वर्ग से उत्पन्न या फिर इस वर्ग में शामिल होने की ललक रखने वाले लोगों द्वारा शोषण और उत्पीड़न के जरिये अपेक्षित परिणामों की ओर इंगित कर दिया है।

इस नई 'महाजनी सभ्यता' के उदय से आम भारतीयों के सामने जो विकट समस्या आ खड़ी हुई, वह थी रोजगार संबंधी असुरक्षा में वृद्धि। कृषि कार्य में व्यस्त लोगों का लाभांश निरंतर न्यूनतम स्तर तक पहुँचता जा रहा था। बढ़ते कारखानों के चलते कुटीर उद्योग भी दम तोड़ रहा था। उद्योग-धन्धे भी नहीं के बराबर थे, और जो थोड़े बहुत थे उनमें भारतीय, क्लर्क या मजदूर की हैसियत ही रखते थे। ब्रितानी हुकूमत से पूर्व कुटीर उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था का काफी बड़ा हिस्सा थे किन्तु 19वीं शताब्दी के आसपास से अंग्रेजों ने अपनी व्यवसायिक नीतियों से इन्हें क्षति पहुँचानी शुरू कर दी। हथकरघे से बना सूती वस्त्र अंग्रजों की मिलों में तैयार कपड़े के मुकाबले बेहतर और सस्ता होता था, साथ ही इससे अनेक लोगों को रोजी-रोटी मिली हुई थी। इसके नष्ट होने पर कारीगर या ज़मींदारों के यहाँ भाड़े के मजदूर हो गये या फिर थोड़ा बहुत पढ़ लिख लेने के कारण नौकरी की खोज शुरू कर दी।

इस प्रकार लघु अथवा कुटीर उद्योगों के नष्ट होने से तबाह हुए लोग नौकरी की आशा में दर-दर भटकने लगे, पहले से ही नौकरी के पेशे में व्यस्त लोगों को इससे और भी खतरा उत्पन्न हो गया, अब नौकरी के लिये अपेक्षित योग्यता का आधार हो गया अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अथवा अंग्रजों की चाटुकारिता।

'काला जल' में नष्ट हो रहे कुटीर उद्योगों के प्रभाव को बिट्टी रवताइन उर्फ बीदारोगिन के घर में देखा जा सकता है। मिर्जा करामत बेग नौकरी से इस्तीफा दे देने के बाद भी काफी सम्पन्न बने रहते हैं क्योंकि वे इसके बाद बड़े पैमाने पर चूड़ियों का धंधा शुरू कर देते हैं, किन्तु धीरे-धीरे यह धंधा मंद पड़ जाता है। रज्जू मियाँ रियासत की नौकरी छूट जाने के बाद बेरोजगार बैठे हैं क्योंकि उनके पास कोई दूसरा हुनर नहीं है और न ही कोई व्यवसाय। वे अपनी बेकारी में रोशन से आशा लगाये हुये हैं, रौशन तहसीलदार की अदालत में मोहर्रिर होने की योग्यता रखता है क्योंकि वह थोड़ी बहुत अंग्रेजी भी जानता है लेकिन यह नौकरी

उसे तभी नसीब होती है जब रज्जू मियाँ शासक वर्ग के प्रति अपनी निष्ठा अंग्रेजी दीवान के समक्ष व्यक्त करते हैं, ''हुजूर गुलाम ने अपनी हैसियत और औकात के अनुसार जहाँ तक हो सका रियासत की खिदमत की। मेरा एक जवान बेटा है जिसको हमने थोड़ा बहुत पढ़ा-लिखा लिया है अगर हुजूर की नजरें शानी हो तो.....।''[23]

अंग्रजों ने बड़ी चालाकी से रोजगार की समस्या को हिन्दू-मुस्लिम को आपस में लड़ाने का अस्त्र बनाया। यह कहते हुए कि अमुक वर्ग हमारे प्रति निष्ठावान है लिहाजा उसे ही नौकरी मिलेगी।[24] उनका यह षड्यंत्र हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही कौमों पर घातक साबित हुआ। इससे साम्प्रदायिकता के जहर को फैलने का मौका मिला। इसी साम्प्रदायिकता के चलते ही 'मुस्लिम लीग' का निर्माण हुआ और बाद में 'मुस्लिम लीग' द्वारा पाकिस्तान की मांग भी। स्वतंत्र भारत में भी इसका प्रभाव कायम रहा, इसे शानी ने 'काला जल' के अंत में दिखाया है।

भारत में आये दिन प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने वाली जनता को ब्रितानी हुकूमत की आर्थिक नीतियों ने और भी अधिक कमजोर और दरिद्र बना दिया। भारतीय इतिहास में इस बात के पर्याप्त साक्ष्य मौजूद हैं कि पूरे ब्रिटिश शासन के दौरान प्रायः भारतीय भुखमरी और दरिद्रता से जूझते रहे। साथ ही उनके लिए जीविका या रोजगार प्राप्त करना कठिन होता गया। आर्थिक शोषण, दैवीय आपदाएँ, व्यवसायों का ह्रास और उनका स्थान ले रहे आधुनिक उद्योगों पर बड़ी रकम का खर्च होना, भारत से धन ढोकर ब्रिटेन ले जाना तथा कृषि उद्योग का पिछड़ जाना एवं गरीब किसानों और मजदूरों का ज़मींदारों, महाजनों, व्यापारियों और राज्य द्वारा शोषण, इन सब ने मिलकर भारतीय जनता की कमर तोड़ दी और उसे दरिद्रता की कगार तक पहुँचा दिया।

मोहसिन की अम्मी, छोटी फूफी का परिवार भी इसी बदहाली का शिकार है, ''सिवार, चीला, लद्दी, पुराना कीचड़ भरा मछली गंध वाले काले जल की

अजीब मिली-जुली दम घोंट् दुर्गंध यानि अवश्य ही फूफी का घर पास आ गया है।''[25] गरीबी के इस आलम में जो औरत जी रही है उसका पति अदालत में मुहर्रिर था। परिस्थितियाँ इतनी भीषण कि वह अपनी गर्भवती बहू को अस्पताल नहीं ले जा सकती है और मोहल्ले की औरतों के ताने भी झेलने पड़ते हैं।

दरिद्रता का यह आलम सर्वत्र अपनी जड़ें जमाये प्रतीत होता है। उपन्यास में चित्रित एक अन्य परिवार, बब्बन के घर की भी यही स्थिति है, ''ठण्डे चूल्हे वाला घर दिन को भी कितना भाएँ-भाएँ करता है जैसे आग का सुलगना ही सारे घर की नशों में तपिश भरता हो। संभवतः आनन्द मंगल की समस्त किरणे वहीं से फूटती है जहाँ घर में उजाला होता है नहीं तो घर और बीयाबान में फर्क ही क्या है।''[26] विचलित कर देने वाली इन परिस्थितियों को झेलती बब्बन की अम्मी अपना क्षोभ और कुण्ठा अपने बच्चों पर ही व्यक्त करती है। बच्चों की मासूमियत को भूलकर कड़वे ढंग से वह उन्हीं पर बरस पड़ती है, ''क्या चाहिए खाना, वह तो नहीं है, अब मेरा गोश्त रह गया है खाने के लिए तुम सब लोग बैठकर उसे भी चीर डालो।''[27] बब्बन के पिता के पास अपना मकान है, रोजगार के लिए कचहरी की नौकरी है किन्तु उनकी अय्याशी, परिवार के प्रति दायित्वहीनता और बढ़ती महँगाई के चलते उनके घर की यह दुर्दशा हुई है। आमदनी से ज्यादा घर का खर्च है, ''रोज चार-पाँच रुपये मैं कहाँ से लाकर दूंगा। तुम्हारे इस चूल्हे चौके के गढ़े में तो सरकारी पैसे भी भरे जा रहे हैं।''[28] ज़ाहिर है, इन सब समस्याओं के चलते पारिवारिक सुख शांति की अपेक्षा महज एक कल्पना ही साबित होगी।

जनता की दरिद्रता की पराकष्ठा अकालों की श्रृंखला में दिखायी देती है। जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अपना तांडव नृत्य दिखाना आरम्भ कर दिया।[29] भारत में बार-बार पड़ते अकाल और उनमें मरने वालों की भारी संख्या इस बात के संकेतक है कि गरीबी और भूखमरी की जड़ें भारत में कितनी गहरी हो गई थीं। अकालों की विनाशकारी लीला से बस्तर जिले का जगदलपुर कस्बा भी

अछूता नहीं था। 1910 में मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में जबर्दस्त अकाल पड़ा था, भूखे नंगे और जाहिल आदिवासी जगदलपुर के बाजार को लूटते हैं और सत्ता के हिमायती पैरोकार लोगों की हत्या करते हैं। व्यक्ति अन्न के लिए तड़प रहा था, देश की जनता भूखी मर रही थी, यह तत्कालीन देश का युगीन बोध ही है।

'काल जल' में मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवेश से जुड़ी हुई जीवन स्थितियाँ सामाजिक यथार्थ के विविध अनदेखे पहलुओं को उद्‌घाटित करती है। ''यथार्थवादी कला का तकाजा है कि मनुष्य के जीवन को केवल आर्थिक स्थितियों के साँचे में ढालकर प्रस्तुत न किया जाय क्योंकि मनुष्य की सोच और उसके जीवन व्यवहार को केवल आर्थिक स्थिति ही निर्धारित नहीं करती बल्कि जीवन से जुड़ी अनेक परिस्थितियों की सुदीर्घ परंपरा होती है जो उसके जीवन और व्यक्तित्व को नियंत्रित और प्रभावित करती है।''[30] काल संदर्भ के विस्तार, पात्रों की विविधतापूर्ण दुनिया तथा परिवेश की निजी विशिष्टताओं ने काला जल की संवेदना को बहु आयामी बना दिया है। संवेदना के जो मुख्य स्तर उभरकर सामने आते हैं उनमें से एक स्तर वह है जहाँ छोटी फूफी और बब्बन के परिवार एक जैसी यंत्रणा को झेलते हुए अपनी नियति के विरुद्ध संघर्षरत हैं।

रज्जू मियाँ और बब्बन के अब्बा के माध्यम से व्यक्ति के चारित्रिक स्खलन की अमानवीय प्रक्रिया को उभारा गया है। जिन्दगी के तंग दायरे में जीने के अभ्यस्त और आत्मतुष्ट व्यक्ति अपनी कुण्ठाओं को किस रूप में प्रकट करते हैं, रज्जू मियाँ और बब्बन के अब्बा इसके जीवंत प्रतीक है, ''अपने से बाहर जाकर दूसरे संदर्भों से जुड़ने का न उन्हें अवसर मिलता है और न ही उनसे जुड़ने की उत्कंठा ही उनके भीतर होती है। एक खास तरह के सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे ने उन्हें विरासत में यही दिया है। अपनी भीतरी रिक्तता और अधूरेपन को भरने का यदि कोई सुरक्षित और सुविधाजनक रास्ता है, तो वह है स्त्री का भोग इस रिक्तता और अधूरेपन को भरते हुए वह किसी भी स्तर तक गिर सकता

है।''[31] मिर्जा करामत बेग का चालीसवाँ होते ही रज्जू मियाँ की दृष्टि बीदारोगिन पर टिक जाती है। रोशन के प्रति छलकने वाले स्नेह में कितना कलुष छिपा हुआ है। इसका ज्ञान हमें बाद में होता है। रज्जू मियाँ के चरित्र का रौशन के किशोर मन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। वे ही रौशन को हॉस्टल के एक बंद कमरे में आपत्तिजनक स्थिति में पाते हैं। रौशन के विवाह के बाद जब छोटी फूफी दुल्हन बनकर आ जाती है तो रज्जू मियाँ की दृष्टि 'बी' से हटकर छोटी फूफी पर जम जाती है। इस घर में कदम रखते ही गोया दुर्भाग्य ने उन्हें घेर लिया है। ससुर के नाते अपमान का विरोध भी नहीं कर पातीं, परिणामस्वरूप क्षण-क्षण होती इस मृत्यु का सामाना लगातार करती रहती है। ऐसे भयावह क्षणों में छोटी फूफी की मनः स्थिति को लेखक ने बड़े हृदयस्पर्शी रूप में चित्रित किया है, ''वे हर क्षण अपनी बांह पर रज्जू मियाँ के हाथ की पकड़ महसूस करती है। तरह-तरह के दुःस्वप्न आँखों में उभरने लगते हैं। मसलन किसी वीरान जंगल के बीच वे अकेली पड़ गयी हैं। किसी फूलों से भरी घाटी में उतरती हैं वहाँ ऊँचे-ऊँचे शालवृक्ष खड़े हैं। पर जैसे ही वह आँखें उठाकर देखती हैं तो कोई चितकवरी पीठ वाला साँप अचानक उनकी ओर लपकता है। किसी तरह जान बचाने के लिए वे लौटती हैं और पूरी ताकत के साथ बेतहासा भागना चाहती हैं। लेकिन अजीब बात यह है कि चाहे वह जितनी, शक्ति लगाएँ फासला कम ही नहीं होता और परिणामस्वरूप साँप उनके शरीर में लिपट जाता है।'' रज्जू मियाँ को लेकर छोटी फूफी की यही स्थिति है।

रज्जू मियाँ की इन कुचेष्टाओं का शिकार घर की नौकरानी मालती भी हुई, मालती के रूप में वे एक और औरत को जीवन भर सामाजिक उपेक्षा सहने के लिए अभिशप्त कर देते हैं। वह घर छोड़कर चली जाती है तो फिर वापस नहीं आती उपन्यास में छोटी फूफी की स्थिति को और अधिक उभारने के लिए रशीदा के प्रसंग को भी स्थान दिया गया है। रशीदा का चाचा उतना ही असभ्य और

व्यभिचारी है जितने की रज्जू मियाँ। वह भी छप्पर पर चढ़कर ऊपर की खपरैल हटाकर परदा नशीन औरतों को घूरता है तथा औरतों को धोखे से घर में बुलाकर दरवाज़ा बंद कर लेता है। पाँचो बार की नमाज़ नियमित रूप से पढ़ने वाला यह आदमी अपनी भतीजी रशीदा को भी नहीं बख्शाता। वह सोचती है, आदमी और जानवर में आख़िर फर्क क्या है? यह सोचते हुए ही वह मिट्टी का तेल छिड़ककर आत्मदाह कर लेती है। यह घटना फूफी को अधिक विचलित कर देती है। वह सोचती है यह सब उनके साथ ही घटित हो रहा है।

यौन कुण्ठाओं का एक अन्य रूप बब्बन के अब्बा के माध्यम से देखने को मिलता है। वे अपने परिवार की निरंतर बिगड़ती जा रही स्थिति की चिंता किये बगैर किसी पराई स्त्री के फेर में पड़े हुए हैं। जब मानसिक रूप से असंतुलित होते हैं तो अपनी बेटी सोफिया और पत्नी पर क्रोध बरसाते हैं। बब्बन अपने पिता की सोचनीय दशा को देखकर इतना विचलित हो उठता है कि आत्महत्या करने तक की सोच लेता है, लेकिन वह जीने का साहस बटोर लेता है। यह परिवार जो जिन्दगी जी रहा है वह किसी मृत्यु से कम भयावह नहीं है। बब्बन के अब्बा अपनी पत्नी और बच्चों को नज़र अंदाज कर एक ऐसी जगह आश्रय ढूंढ़ रहे हैं जहाँ हताशा और टूटन के अलावा और कुछ नहीं है।

मिर्जा करामत बेग हों या रज्जू मियाँ या रशीदा का चाचा या फिर बब्बन के अब्बा, सभी के चरित्र बस्तर के ठहरे हुए परिवेश की उपज हैं। इनमें विकृतियाँ हैं, कुण्ठाएँ हैं और इन सबके रहते हुए ही ये हमें सच लगते हैं। व्यक्ति का निरंतर नैतिक पतन ही इन चरित्रों के विकास की दिशा है और इनसे जुड़े जीवन का सच भी।

(ग) जीवन में ठहराव की सड़ान्ध

काला जल दो परिवारों के तीन पीढ़ियों की कथा है जिसमें देशकाल का

व्यापक संदर्भ लगभग 1910 के आस-पास से आरंभ होकर आज़ादी के कुछ बाद के वर्षों तक बस्तर के पिछड़े अंचल में फैला हुआ है। 'काला जल' प्रतीक है बंधे हुए अवरूद्ध निम्न मध्यवर्गीय जीवन का, जिसमें गतिहीनता पूरी तरह से पसरी हुई है। इस अंचल के जीवन में केवल ठहरे हुए जल की सड़ांध व्याप्त है। यह मूल्यगत सड़ांध जिस घुटन को हवा में बिखेर रही है उससे कथावाचक बब्बन और मिर्जा करामत बेग इन दोनों परिवारों सहित वहाँ का पूरा समाज प्रभावित है। बब्बन जब छोटी फूफी के घर फातिहा पढ़ने के लिए जाता है, तो हवा में बसी बिसयायंध (दुर्गंध) बता देती है कि ''सिवार, चिला लद्दी पुरानी कीचड़ तथा मछली गंध वाले जल की अजीब मिली-जुली और दमघोट दुर्गंध यानी अवश्य ही फूफी का घर पास आ गया है।'' उपन्यास का आरंभ ही मोती तालाब के वर्णन से हुआ है। गौरतलब है कि तालाब के नाम और उसमें मौजूद जल की स्थिति के मध्य गहरा विरोधाभास है। डॉ. हरदयाल ने 'काला जल' पर केन्द्रित अपने एक लेख में इस विरोधाभास की ओर संकेत किया है।[32] इस रूढ़िबद्ध जीवन की एकरसता लेखक द्वारा इन शब्दों के अनेक स्थलों पर प्रयोग द्वारा स्पष्ट होती है। ''मोती तालाब में विस्तार ढके काले जल से भीगकर आती वही बिसियायंध भरी हवा और अमराई पार के नल से जल का गगरा लेकर लौटती वही प्रौढ़ जवान अधेड़ औरतों की राह चलती ठिठोलियाँ।''[33] उपन्यास में मौजूद यह बिंब शीघ्र ही प्रतीक में भी रूपांतरित हो जाता है और समस्त संदर्भ एक नए अर्थ से भर जाता है। फूफी के घर में पिछली तीन पीढ़ियाँ इस ठहरे हुए जल के बदबू युक्त जीवन को जीने के लिए अभिशप्त हैं। रज्जू मियाँ, मालती, रौशन, मोहसिन और सल्लो आपा ये सभी इस घुटन भरे माहौल में हर पल सांस लेने की तकलीफ़ उठाते हैं। यह घुटन केवल फूफी के यहाँ तक ही सीमित नहीं है, वरन् बब्बन के घर तक बहने वाली हवा भी इस दुर्गंध से युक्त है वहाँ भी अनैतिक संबंध, आर्थिक दरिद्रता के रूप में तमाम विकृतियाँ अपनी जड़ें जमाए हुए हैं।

मूल्यगत जड़ता से उत्पन्न सड़ांध इस उपन्यास में मौजूद महत्वपूर्ण संवेदन बिन्दु है। उपन्यास में मौजूद विडंबनापूर्ण सामाजिक पारिवारिक ढांचा, जो बदलती सामाजिक, राजनैतिक चेतना से सर्वथा पृथक है, बस्तर के ठहरे हुए परिवेश की स्वाभाविक उपज के रूप में उसके प्रमुख पात्रों का अस्तित्व सामंतवादी मूल्यों तथा खोखले संकेन्द्रित आचरणों के रूप में प्रस्तुत हुआ है। 'काला जल' के अधिकांश परिवारों में पुरुष केन्द्रित व्यवस्था है जिसमें उसका निरंकुश शासन है। अवशिष्ट सामंती व्यवस्था के रूप में विकृत मानसिकता वाले रज्जू मियाँ बब्बन के पिता, रशीदा का चाचा तथा असहज संवेदन शून्य रोशन बेग है। ये सभी कुंठित और आत्म केन्द्रित व्यक्तित्व हैं। इनके भीतर आत्महीनता स्त्री के अपमान तथा शरीर का सुख भोग अपनी शर्तों पर परिवार को पालने की जिद ऐसी ही तमाम मनोग्रंथियाँ मौजूद हैं। पुरुष की कुंठित मानसिकता मानो स्त्री भोग में ही अपने अस्तित्व की सार्थकता अनुभव करती प्रतीत होती है।

एक क्षयशील वातावरण में पुरुष चेतना तमाम विकृतियों की शिकार नजर आती है। यही कारण है कि स्त्री, पुरुष द्वारा शोषित और अपमानित जीवन जीने को बाध्य है। 'काला जल' के सभी स्त्री पात्र अपमान से भरा दुखी जीवन जीते हैं। बीदारोगिन अपने समय के सामाजिक आर्थिक दबावों के चलते कटु व क्रूर हो गई है। बिलासपुर वाली की मूक दृष्टि में खालीपन व वीरानी फैली नजर आती है। मालती व रशीदा के जीवन संबल रहित शून्य में परिवर्तित होकर करूण अपमान को प्राप्त हुए हैं। यहाँ तक कि उपन्यास में कुछ क्षण के लिए उपस्थित सुनार की बीवी की करूण यातनामय स्थिति उपन्यास में मूल्यगत विकृतियों से उत्पन्न सड़ांध को और गहराती है। 15 वर्ष की छोटी आयु में कुंठित कसैले रौशन बेग से बंधने वाली छोटी फूफी का चरित्र इस वातावरण में पिसता, छीजता हुआ हमें करुणाविगलित कर देता है। सालिहा के रूप में नारी चेतना अपने आस-पास के परिवेश में बिखरे इन सूत्रों में बंधने के बजाय अपनी नई परिभाषा गढ़ने का प्रयास

करती है किन्तु 'काला जल' के औपन्यासिक संसार में उसकी मृत्यु हो जाती है। अंत तक भी उसकी चीखें इधर-उधर टकराती है लेकिन सुनवाई की गुंजाइश हमेशा नदारद रहती है। ''सुना है- लड़की रात भर चिल्ला चिल्लाकर रोती रही कि डाक्टर बुलाओ नहीं तो मैं मर जाऊँगी, पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।''

'काला जल' एक ठहरे हुए परिवेश में मानव जीवन के निरर्थक होते जाने तथा निरंतर सड़ते चले जाने की कथा है। 'मोती तालाब' के जल से उठने वाली सड़ांध पूरे बस्तर के ठहरे हुए जीवन का उदाहरण है। अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण देश के शेष भाग से कटे, पिछड़े आदिवासी क्षेत्र बस्तर का परिचय पहले ही 'सामाजिक राजनीतिक चेतना का अभाव' नामक उप-अध्याय में दिया जा चुका है। (उपन्यास में तेरहवाँ परिच्छेद के जरिए) शायद बस्तर की अनछुई प्रकृति के आकर्षण के चलते मिर्जा करामत बेग ने तबादला होने पर नौकरी तो छोड़ दी परन्तु इसे नहीं छोड़ पाए। रज्जू मियाँ गया से घुड़सवार की नौकरी करने आए और यहीं के होकर रह गए तथा ट्रक ड्राइवर बनकर आए नायडू भी यहाँ से लौट नहीं पाए। बस्तर के ठहराव और सड़ांध ने इन सबकी प्राण शक्ति को चूस लिया। सभी दु:खी होकर घुट-घुट कर जीते या मरते रहे। बस्तर के ठहरे हुए जीवन को लेकर नायडू की राय उल्लेखनीय है। ''मैं उस बस्ती को 20 वर्षों से जानता हूँ, अवसरवादी और स्वार्थी हर जगह होते हैं लेकिन यहाँ तो मुर्दे और बेपानी के लोग बसते हैं। लगता है कि जैसे कुछ सच और अधिकांश झूठ के बीच हम सारे बस्तर के लोग रह रहे है। या तो देशव्यापी आंदोलन की बात झूठ है अथवा यह झूठ है कि बस्तर भारत का ही एक हिस्सा है।''[34] 'काला जल' इस ठहरे हुए परिवेश में मानव जीवन के निरर्थक होने की कथा है। मोती तालाब गंदगी और जोंकों के कारण अनुपयोगी है, उस जल के समान ही 'काला जल' के प्रत्येक चरित्र का जीवन भी निष्क्रिय व निरर्थक है। जल को जीवन का पर्याय माना जाता है किन्तु मोती तालाब का जल पीने के योग्य नहीं है। जोंका

तथा गंदगी ने इस पानी को तथा दूसरी ओर आत्मकेन्द्रित मानसिकता व अनैतिक संबंधो ने इस जीवन की उपयोगिता को नष्ट कर दिया है। सन् 1910 में अंग्रेजी शासन के विरूद्ध झंडा उठाने वाले आदिवासी बहुल प्रदेश बस्तर में नायडू के अथक परिश्रम के बाद भी स्वाधीनता आंदोलन की स्वच्छ हवा नहीं पहुँच पाती। फलत: मोहभंग होने पर नायडू विक्षिप्त हो जाता है। नायडू की मौत निरर्थकता भरी मौत है। उपन्यास में मौजूद राजनैतिक स्तर भी काला जल के अवरूद्ध जीवन प्रवाह का सूचक है। मानव जीवन के निरंतर निरर्थक होने की विडंबना संपूर्ण उपन्यास पर एक त्रासद प्रभाव छोड़ती है। यह अकारण नहीं कि अपने दुर्भाग्य से मिर्जा के साथ बंधकर आई उनसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी रहने वाली का बिलासपुर वाली का नाम मिर्जा के मुख से अंतिम दिनों में ही निकलता है। इसी प्रकार छोटी फूफी का भी कोई नाम नहीं है। यह 'काला जल' क्षय होती मानव अस्थियों की करूण कथा होने का संकेत है।

अन्तत: यह मानना अनुचित न होगा कि उपन्यासकार मानव नियति तथा मानव जीवन की सार्थकता का सवाल उठा रहा है तथा मानवीय गरिमा की स्थापना के हमारे दावों को एक बार फिर पड़ताल करने के लिए प्रेरित कर रहा है। इस समस्त चित्रण के पीछे मूल्यगत सड़ांध और जड़ता को तोड़ने की लेखकीय चिंता मौजूद है।

(घ) आस्थाहीनता और निरर्थकता का भाव

अपने मूलरूप में 'काला जल' शानी के मानस संसार में फूफी की कथा के रूप में कल्पित था। ''इस उपन्यास को लेकर शानी के सामने एक जीता जागता चरित्र छोटी फूफी था। मुझे इतना तो मालूम था कि उसे केन्द्र बनाकर एक उपन्यास लिखने की तैयारी शानी की है लेकिन वह इतना बड़ा आकार और इतना व्यापक सन्दर्भ ग्रहण कर लेगा इसकी कल्पना तब ना शानी ने की थी ना मैंने। विस्तार की जैसी आदत शानी की है फूफी को उसके समय, परिवेश में उभारने

के लिए उसकी बीती पीढ़ी की जरूरत भी पड़ी। तय हुआ कि छोटी फूफी की वर्तमान पीड़ा को उभारने के लिए उसका अतीत जरूरी है। लेकिन यह अतीत इतना विस्तृत हो जायेगा कि इसकी अपनी अलग कहानी होगी, उसके प्रत्येक पात्र की सम्पूर्ण जीवन यात्रा वहाँ होगी और पूरा उपन्यास तीन पीढ़ियों का इतिहास होगा यह तब नहीं सोचा था।''[35] उपन्यास में छोटी फूफी का चित्रण हुआ है। ऐसा लगता है मानो 'त्यागपत्र' के जस्टिस एम दयाल के समक्ष छोटी फूफी के त्रस्त जीवन की पीड़ा कथावाचक (बब्बन) की अन्तश्चेतना में व्याप्त है और उससे मुक्ति के प्रयासों ने ही 'कालाजल' का आकार ग्रहण किया है। कालाजल के अन्य चरित्रों के साथ फूफी का चरित्र इस तरह गुंथा हुआ है कि उनके रेशों को अलग कर पाना मुश्किल है।

'काला जल' पात्रों की भीड़ का उपन्यास है। कालाजल के औपन्यासिक संसार में प्रत्येक पात्र का प्रवेश किसी घटना या प्रसंग के प्रस्तुति संदर्भ को व्यापकता प्रदान करने या संवेदना की सघनता के लिए ही हुआ है। उपन्यास के आरम्भ में आने वाले मिर्ज़ा करामत बेग से लेकर बीच में कुछ पलों के लिए आने वाले मालती, रशीदा, ज़ाहिरा भाभी, त्रिवेदी काका जैसे चरित्र भी सांकेतिक रूप में किसी न किसी संवेदना को उभारने में सहायक होते हैं। रज्जू मियाँ की रूग्ण मानसिकता, रौशन बेग का आत्मकेन्द्रित, अपने में ही अवरूद्ध भाव शून्य कसैला व्यक्तित्व बीदारोगिन का आतंक वह विस्तृत कैनवास है जिसपर शानी ने छोटी फूफी, सालिहा (सल्लो आपा) तथा मोहसिन के चरित्रों को रूपाकार प्रदान किया है।

'काला जल' के पात्र इसी कारण एक दूसरे से गहरे जुड़े हुए हैं और उनका विकास पारस्परिकता में ही हुआ है। उनका व्यक्तित्व सापेक्षिक है। मिर्ज़ा करामत बेग और बिदारोगिन से आविष्ट हो विलासपुर वाली का जीवन निराशामय हो जाता है। 'बी' का यही व्यक्तित्व आगे चलकर छोटी फूफी के पल-पल को

अनुशासित, आतंकित करता हुआ उनके जीवन को यातनामय बना देता है। बीदारोगिन व रज्जू मियाँ के चरित्र मिलकर रौशन को कुण्ठित, गुस्सैल तथा कठोर व्यक्तित्व के रूप में परिणत कर देते हैं। परिणामस्वरूप छोटी फूफी की यातना दोहरी हो जाती है। रौशन बेग को इस अजीबोगरीब वातावरण ने अपने ढंग से विद्रोही तथा निरर्थक बना दिया है। इस समस्त परिदृश्य की चोटें पुनः छोटी फूफी पर ही पड़ती हैं। इस रूप में 'काला जल' के सभी चरित्र परस्पर सम्बद्ध हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि यह पात्र मनुष्य के रूप में स्वतंत्र व्यक्तित्व लिए हुए नहीं है अथवा यह किसी निजी वैशिष्ट्य से रहित है।

कुछ कृतियाँ लेखकीय आशय के अनुरूप आगे बढ़ती हैं, तो कुछ सृजन प्रक्रिया के रूप में अपना रंगरूप स्वयं चुन लेती है। 'काला जल' इसका जीवन्त प्रमाण है। 'काला जल' में एक ओर तो छोटी फूफी का चरित्र केन्द्रीय प्रतीत होता है तो दूसरी ओर समान शक्ति से मोहसिन व सल्लो भी हमें अपनी ओर खींचते हैं। छोटी फूफी का चरित्र जहाँ कालखण्ड के प्रवाह में धीमी गति से बहती हुई लकड़ी के समान अलग-अलग चीजों से टकराता इधर-उधर ठोंकरे खाता, डूबता-उतराता अन्त तक कथाधारा के साथ तैर रहा है वहीं सल्लो आपा, मोहसिन तथा एक सीमा तक नायडू की भीतरी ऊर्जा एकदम से सुलगकर बम की तरह शक्तिशाली विस्फोट के समान नष्ट हो गयी है। इस रूप में यह उपन्यास फूफी की पीड़ा के सन्दर्भों से आगे व्यापक युगीन मानवीय पीड़ा, अनास्था और उसके निरंतर क्षयशील तथा निरर्थक होते जाने का ज्वलंत दस्तावेज बन गया है।

सल्लो आपा व मोहसिन उस युवा पीढ़ी के प्रतीक माने जा सकते हैं जो भारतवर्ष की मुख्य धारा से कटे द्वीपनुमा बस्तर के उस बंधे बंधाये और घुटन भरे जीवन से निकलने के लिए छटपटाती है और नयेपन की तलाश में इधर-उधर हाथ पैर मारती है। दोनों के भीतर ठाठें मारती हुई ऊर्जा का अबाध प्रवाह है जो तट की सीमाओं को तोड़ने के लिए लहरों के रूप में माथा पटक रहा है। दोनों अपनी

सीमाओं में इस जड़ता से टकराते हैं। द्वितीय खण्ड मुख्यरूप से मोहसिन की बेचैनी, खोज और आन्तरिक हलचल तथा सल्लो आपा की उभरती नवीन यौन अस्मिता एवं तद्जन्य स्थिति के कारण उपजी चपलता, चंचलता का खण्ड है। मोहसिन की भटकन, हिंसा भाव निरन्तर बनी रहने वाली व्याकुलता उसके भीतर किशोर सुलभ उस भावनात्मकता की प्रतीक है जो प्रत्येक किशोर या युवा की स्वतंत्र पहचान उभरने की प्रक्रिया में उत्पन्न होता है। पिता के अहंकारी, कठोर एवं भावशून्य व्यक्तित्व के समक्ष मोहसिन हमेशा स्वयं को निरर्थक व असुरक्षित अनुभव करता रहता है। परिणामस्वरूप अपनी अस्मिता की स्थापना एवं प्रतिष्ठा के लिए वह अपने से बड़ी आयु के लड़कों से मित्रता करता है, छोटों को धमकाता है, सिगरेट पीता है तथा गिरगिट व गौरैया को मारता है। इन कार्यों में उसे विचित्र प्रकार का हिंस्र सुख प्राप्त होता है। मोहसिन का उपेक्षित अहं इन कार्यों द्वारा तृप्त होता है। परिवार में परस्पर संप्रेषण के अभाव से मोहसिन कोमल संवेदनाओं से गोया अपरिचित ही रह गया है और एक अलगाव बोध से ग्रस्त है।

मोहसिन के भीतर ऊर्जा खौलती रहती है और रचनात्मक निकास न पाकर उसे ही जलाती है। नायडू द्वारा निर्देशित होने पर जोखिम भरे कार्यों को अंजाम देने का साहस, स्वाधीनता आन्दोलन की चेतना जगाने की इच्छा तथा प्रत्येक कार्य को निष्ठा, लगन तथा ईमानदारी से पूरा करने के प्रयास द्वारा उसके चरित्र में एक सकारात्मक मोड़ आता दिखाई देता है। ''सच कहूँ तो यह मोहसिन मुझे नया सा लगा, अब तक जिसे केवल शरारती, दुस्साहसी, प्रायः हृदयहीन समझता था उसे इस रूप में देखने की मैंने कल्पना भी नहीं की थी। इन सब का बीज इसके मन में कब से पड़ा है।'' 'प्रार्थना सभा' में यूनियन जैक को सलामी देने से इंकार करना, झंडे सहित फ्लेग पोस्ट को जला देने के साहसपूर्ण कार्य उसके चारित्रिक विकास को उभारने वाले हैं। मोहसिन आत्मीयता तथा स्नेह की खोज में भटक रहा है। नायडू के स्वास्थ्य के प्रति सच्ची चिन्ता, अपने कोड़ा गाँव जाने की सूचना

नायडू को देने का आग्रह ऐसे प्रयत्न हैं। यह जानकर कि बब्बन उसका मामूज़ाद भाई है वह उसके प्रति कोमल स्नेह से भर उठता है। जगदलपुर के ठहरे से सामाजिक जीवन में व्याप्त बेईमानी, भ्रष्टाचार एवं झूठ ने मोहसिन को एक टूटे निराश और अकेले व्यक्तित्व के रूप में बदलकर रख दिया है। उसकी नौकरी इसलिए चली गयी क्योंकि- ''बेइज्ज़त होकर निकाले जाने से से तो बेहतर है कि इज्ज़त के साथ अलग हो जाओ। नौकरी केवल मेहनत, लगन या दिमागी बलबूते पर नहीं की जाती इसके लिए और भी गुण चाहिए जिनका मेरे पास सिरे से अभाव है।''[36]

उपन्यास के अन्त तक आते-आते मोहसिन उन सभी युवाओं के प्रतीक रूप में परिणित हो गया है जो अपनी जगह निरर्थक और बेमानी हो गये जीवन को लिए सबसे मुँह चुराते हुए केवल अन्धेरे में सुकून पा रहे हैं। इस युवा का आदर्शवाद पराजित हो चुका है, स्वप्न टुकडों में बिखरकर पैरों में काँच की तरह चुभकर उसे लहु-लुहान कर रहे हैं। सम्पूर्ण जीवन उसने मानो गलत पाठ पढ़ा हो और अब अचानक मालूम हुआ कि आजादी के बाद शब्दों के अर्थ वे नहीं जो उसने याद किए हैं। शब्दार्थ का संबंध असंगत हो गया है जो जितना बड़ा बेईमान वह उतना बड़ा आदमी है। पढ़ाई बीच में ही छोड़ देने वाला मिश्रा इंस्पेक्टर बन गया है और एम.ए. तक पढ़ने वाला पाटिल क्लर्की कर रहा है। विभाजन के बाद मोहसिन जैसे मुस्लिम युवाओं को केवल एक ही स्वप्नद्वीप नजर आता है, पाकिस्तान। वास्तव में यह मोहसिन के कटु अनुभवों से उत्पन्न अनास्था और उसकी टूटन, अकेलेपन तथा निरर्थकता बोध से उत्पन्न पलायनवृत्ति है। इसी के चलते उसे राष्ट्रीयता व ईमानदारी, मजबूरी लगने लगती है। मोहसिन की यह सोच साम्प्रदायिकता के आग्रह से नहीं अपितु अपनी वर्गीय अस्मिता की तलाश के आग्रह अथवा यूँ कहे कि एक समाज में अपनी सही जगह न पाने की कचोट से उत्पन्न व्यक्ति की चीख है।

(ङ) परिजनों से बिछडने की यंत्रणा

भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में पहले साम्प्रदायिकता तथा बाद में इसी को आधार बनाकर दो राष्ट्रों का सिद्धान्त और विभाजन। पहले भारत और पाकिस्तान तथा बाद में बांग्लादेश एक ही भूखंड से राजनैतिक और सामाजिक कारणों से विभक्त हुए इन सभी देशों की जनता को विभाजन की विभीषिका से उत्पन्न अनेक त्रासजनक समस्याओं का सामना करना पड़ा। विभाजन के क्रम में अपनी जड़ों से काटकर इधर-उधर हटा दिए गये अथवा सांप्रदायिक हिंसा के चलते काल का ग्रास बने असंख्य लोगों की पीड़ाएँ इतिहास के पृष्ठों में चीख के रूप में दर्ज हैं। इतिहास साक्षी है कि लाखों लोग इस दौर में विस्थापन से उत्पन्न समस्याओं का शिकार हुए और बेघर हो गए। अनगिनत लोग मौत के घाट उतार दिये गए परस्पर विरोधी समझे जाने वाले सम्प्रदाय की स्त्रियों का अपमान किया गया और उन्हें तरह-तरह से यातनाएँ दी गई।

भारतीय कथा साहित्य में इन सभी समस्याओं को खासा स्थान दिया गया। साथ ही विभाजन से उत्पन्न विस्थापन के चलते अपनों से बिछड़ गए लोगों की यंत्रणा और टीस को भी खासी अहमियत दी गई है। अपनों से विछड़ जाने की यंत्रणा सरल रेखीय अथवा एकायामी नहीं है। यह प्रक्रिया जटिल और बहुस्तरीय है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन दूरियों के बनने के पीछे कोई एक कारण मौजूद नहीं है। विभाजन के बाद जो मुसलमान पाकिस्तान गए शायद उसके पीछे कारण स्वतंत्रता और निश्चिंतता से जुड़ा है। यही वजह पाकिस्तान से आने वाले सिक्ख तथा हिन्दुओं के साथ रही थी। उन्होंने भी नव-निर्मित पाकिस्तान में स्वयं को महफूज अनुभव नहीं किया। पलायन और वि:स्थापन की इस आपा-धापी में कुछ लोग ऐसे भी रहे जो अपने घर-बार, पड़ोस गाँव अथवा शहर को छोड़कर अन्यत्र नहीं गए और कुछ लोगों को सांप्रदायिक ताकतों ने भागने पर मजबूर कर दिया। इन सभी समस्याओं को हिन्दी कथा साहित्य में पूरी बारीकी और सच्चाई के

साथ रेखांकित किया गया है।

विभाजन और उससे जुड़ी अनेक समस्याओं तथा सांप्रदायिकता के घिनौने चेहरे को भीष्म साहनी की कहानी ''अमृतसर आ गया'', अज्ञेय की कहानी ''शरणदाता'', मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' आदि में ईमानदारी और अनुभव की प्रमाणिकता के साथ देखा जा सकता है। उपन्यास साहित्य भी अपनी यात्रा के क्रम में मनुष्य को शर्मसार कर देने वाले इस घिनौने यथार्थ को प्रस्तुत करने से अछूता नहीं रहा।

कालांतर में शानी सरीखे साहित्यकार ने महसूस किया कि भारतीय कथा साहित्य खास तौर पर हिन्दी कथा साहित्य में भारतीय मुसलमान की जो तस्वीर दिखाई गई है वो या तो पूर्ण नहीं है अथवा मुस्लिम समाज को साहित्य में उनके वास्तविक जीवन, अंतर्विरोधों, सीमाओं और शक्तियों से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'शानी' की इस आपत्ति से कतई साम्प्रदायिकता की बू नहीं आती महज साहित्य में किसी सच्चाई को नजर अंदाज करने के कारण उनके अंदर उत्पन्न क्षोभ के रूप में ही उनके इस विचार की सार्थकता के लिए उनहें श्रेय दिया जाना चाहिए।

हिन्दी कथा साहित्य में साम्रदायिकता, स्वतंत्रता और विभाजन के साथ ही अल्प संख्यक वर्ग को ही समस्याओं को रेखांकित करने वाले मुस्लिम लेखकों की जो लंबी फहरिश्त मौजूद है, वह शानी की उपरोक्त चिन्ता का ही परिणाम कही जा सकती है। इस क्रम में पहला कदम स्वयं उन्होंने ही उठाया था उनकी बहुत सी कहानियाँ तथा उनका उपन्यास 'काला-जल' साहित्य में उनके द्वारा दर्ज की गई आपत्तियों की आंशिक पूर्ति में सहायक हुआ है।

'काला-जल' में किसी भी समस्या को प्रगतिवादी रचनाओं के समान प्रोपेगेन्डा या नारों की शक्ल में नहीं दिखाया गया है और न ही समस्याओं को

दिखाने के लिए विस्तारवाद का सहारा लिया गया है। अपनों से दूर होने की टीस या पीड़ा का जिक्र 'काला-जल' में महज एक ही स्थल पर मौजूद है। उपन्यास में महज दो-तीन पंक्तियों तक सीमित इस व्यापक मानव पीड़ा को एक उप-अध्याय के रूप में चुनना मेरे लिए खासा चुनौतीपूर्ण और उलझन भरा काम रहा। दरअसल उपन्यास में इस समस्या को कम जगह मिली है इसके बावजूद परवर्ती हिन्दी कथा साहित्य में बिछोह की पीड़ा व्यापक मानवीय पीड़ा के रूप में उभरी है। यह समस्या 'काला-जल' में अपेक्षाकृत कम चित्रित होने के कारण हम लगातार इस समस्या को उठाने के क्रम में यह महसूस कर रहे हैं कि किसी आलेख अथवा अध्याय का जो आकार या स्वरूप प्रबुद्ध वर्ग के मानस पटल पर मौजूद होता है शायद हम बने बनाए ढांचे के आकार में अपने इस लेख को फिट नहीं कर पा रहा हूँ और चूंकि बिछोह की यंत्रणा से उभरी यह पीड़ा हमें अनिवार्यतः पृथक अध्याय के रूप में चर्चा के योग्य लगी अतः आगे हम अपनी बात इसी पर केन्द्रित करेंगे।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के इस यथार्थ को विभिन्न उपन्यासों में स्वर मिला है। भीष्म साहनी का 'तमस' विभाजन के समय साम्प्रदायिक जहर फैलाने के कारणों की ओर संकेत करते हुए मानवीय संवेदना के टूटने को चित्रित करता है। 'तमस' में सांप्रदायिकता के चलते अनेक घर उजड़ जाते हैं। लोग सांप्रदायिक हिंसा का शिकार बनने से बचने के लिए अपने गाँव शहरों से भागरकर शरणार्थी शिविरों में यातनामय जीवन व्यतीत करने को बाध्य है। आँकड़े दर्ज करने वाले क्लर्क से घिघियाकर अपने परिजनों की सूचना मांगते हैं, हर आदमी परेशान और भयग्रस्त है। कहने की जरूरत नहीं कि यह समस्या असामाजिक तत्वों द्वारा रचित षड्यंत्र और मानवीय अदूरदर्शिता तथा दुर्बलताओं के चलते कुछ क्षणों के लिए आदमी के हिन्दू या मुसलमान में परिवर्तित हो जाने के कारण उत्पन्न हुई है जिसका खामियाजा आम आवाम को ही भुगतना पड़ता है। राही मासूम रजा के 'आधा

गाँव' में स्वाधीनता के आस-पास के कुछ वर्षों को आधार बनाते हुए उत्तर प्रदेश के गंगोली गाँव के जीवन में परिवर्तन का चित्रण किया गया है। जमीदारीं प्रथा के खत्म होने तथा अपनों के दूर चले जाने की चोट और अपने ही वतन में गैर हो जाने की पीड़ा का अंकन हुआ है। पूरे उपन्यास में गोया आलम-ए-तनहाई छायी हो ''आज शब्बीर पे क्या आलमे तनहाई है।'' ''हुसैन मियाँ ने पहला ही मिसरा पढ़ा था कि मजलिस उचट गई, तमाम लोग रो रहे थे क्योंकि इन तमाम लोगों के गले में पाकिस्तान की कटी हुई नाल फाँसी की तरह पड़ी हुई थी और उन तमाम लोगों के दम घुंट रहे थे''[37] विभाजन के कारण घर-परिवारों के बँटने से भारत में रह गए या पाकिस्तान चले गए लोगों की पीड़ा को 'नासिरा शर्मा' के 'जिंदा मुहावरे' में अपेक्षित संवेदना व गहरी सहानुभूति मिली है। अकेला पाकिस्तान जाने वाला रहमुद्दीन का बेटा निजाम परिवार में अनुपस्थित रहकर भी माँ बाप के मानस में हर त्यौहार, हर खुशी गमी के मोके पर मौजूद रहता है। पिता बाहर बैठे पगडंडी की ओर देखते रहते हैं और माँ प्रतिदिन खाने की चीजों में से उसका हिस्सा बचाकर रखती है उधर पाकिस्तान में सब कुछ पाकर भी जैसे निजाम के हर पल में उदासी घुल गई है।

हम आरंभ में ही संकेत कर चुके हैं कि 'शानी' के यहाँ यह समस्या आंशिक रूप से ही मौजूद है। स्वतंत्रता के दौरान अनेक लोग चोरी से पाकिस्तान भागने लगते हैं। बस्तर और जगदलपुर में स्थितियाँ भारत के अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक गंभीर व चुनौतीपूर्ण नहीं थीं किन्तु दहशत के चलते लोग बिना कुछ कहे सुने चुपचाप पलायन को अपनी सुरक्षा का कवच बना लेते हैं और पाकिस्तान चले जाते है। यहाँ जीवन के अंतिम दिन गिन रही अश्वाक मास्टर की माँ के जरिए बिछौह के इस त्रासजनक अनुभव को शानी ने पूरी स्वाभाविकता के साथ 'काला-जल' में दर्ज किया है। ''अश्फाक मास्टर की अस्सी-बयासी वर्ष की बेवा माँ अपने बेटो के कारण यहीं रह गई है। रूई जैसे सफेद बाल लिए वह दो

देशों के बीच लटकी जैसे मकड़ी की जिन्दगी जी रही है, एक छूटता नहीं, दूसरा जुड़ता नहीं।''[38]

(च) आडंबर और धार्मिक अंधविश्वास

समाज में व्याप्त आडंबर और अंधविश्वास को सिर्फ अशिक्षा से जोड़कर देखना समीचीन नहीं है। अशिक्षा इनकी व्याप्ति के लिए एक महत्वपूर्ण कारक अवश्य है। किन्तु पढ़े लिखे शिक्षित व्यक्ति भी कई मामलों में इन गैर ज़रूरी रूढ़ियों से बच नहीं पाते।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसके चलते वह समाज की रीतियाँ परम्पराएँ और मान्यताएँ स्वीकारने को बाध्य होता है। अमूमन किसी भी मशहूर वस्तु, स्थान या व्यक्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किवदंतियाँ और घटनाएँ प्रचलित होती हैं जिन्हें हम जनश्रुति के नाम से भी जानते-पहचानते हैं। ये अपने स्वरूप में व्याप्ति अतिरंजना का पुट और प्रभावोत्पादकता लिए होने के कारण कई बार आडंबर या अंधविश्वास को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है। अंधविश्वास को हम दो तरह से देख या पहचान सकते हैं। प्रथमतः वे जो सदियों से चली आ रही रूढ़ियों को बिना कारण अथवा उनका औचित्य विचार किये ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। द्वितीय वे जो अपने जीवन में संयोगवश घटित घटनाओं के संबंध में किसी वस्तु विशेष के प्रति अंधविश्वास करने लगते हैं। किन्तु इस बात से मुकरना मुश्किल है कि अंधविश्वास के लिए एक बड़ा और जिम्मेदार कारण यह भी है कि हमारे समाज का काफी बड़ा हिस्सा अत्यंत पिछड़ा हुआ है। इस वर्ग में अधिकतर कम पढ़े-लिखे अथवा गैर पढ़े लिखे लोगों का शुमार है जो कि अपनी क्षयशील पुरातन मान्यताओं के कारण अलग से पहचाने जाते हैं।

भारतीय समाज में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। प्रत्येक धर्म के अनेक सम्प्रदाय हो सकते हैं, उनकी धार्मिक नीतियाँ और परंपराएँ पृथक हो सकती

हैं किन्तु एक ही भौगोलिक सामाजिक परिस्थितियों में एक साथ रहने के कारण उनकी रीतियों एवं परम्परागत विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। इसलिए कहीं कम कहीं ज्यादा एक धर्म का दूसरे धर्म पर प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है।

इन सम्प्रदायों में कुछ धर्म के मामलों में असहिष्णु होते हैं, कट्टर होते हैं तो कुछ सम्प्रदाय लचीला व उदार रूख अपनाते हैं। मुस्लिमों के बारे में एक आम राय है कि उनमें धार्मिक सहिष्णुता का सर्वथा अभाव है, तथा वे धार्मिक दृष्टिकोण से अत्यधिक कट्टरपंथी होते हैं। जाहिर है किसी भी धर्म में कट्रवादी रवैया मनुष्य को आडंबर और अंधविश्वास की गर्त में ला पटकता है।

'काला जल' में शानी ने मुस्लिम समाज की धार्मिक क्रियाओं, रीति-रिवाजों का वर्णन करने के साथ-साथ इस वर्ग में पाए जाने वाले धार्मिक अंधविश्वासों का भी कतिपय स्थलों पर चित्रण किया है। उपन्यास के आरम्भ में ही शानी ने दिखाया है कि कठिन वित्तीय स्थिति के बावजूद हैसियत न होने पर भी लोग भरसक यह कोशिश करते हैं कि धार्मिक कर्मकांड तो येन-केन-प्रकारेण सम्पन्न हो ही जाए। तीज-त्यौहारों और धार्मिक क्रियाओं का परोक्ष सम्बन्ध अर्थ यानी पैसे से ही है। अत: कर्मकाण्डों में विश्वास कर इनके सफल समापन हेतु व्यस्त रहने वाला व्यक्ति आर्थिक कठिनाईयों से ग्रस्त होकर भी इन्हें पूरा कर लेना चाहता है। परिस्थिति और आर्थिक दृष्टि से घायल होते हुए भी छोटी फूफी 'सबे-बारात' नामक धार्मिक कांड को पूरा करने की सारी तैयारी कर लेती है। गरीबी का आलम यह है कि उस परिवार में रह-रहकर व्यक्ति चाहे वह मोहसनि हो, उसकी बीवी हो या उसकी बहन रुबिया के पारस्परिक सम्बन्ध भी चरमरा गए हैं, फिर भी धर्म के नाम पर पैसे खर्च किये जाते हैं। महज इस भ्रामक अवधारणा के चलते कि मरहूम रूहें इस दिन फातिहा के लिए घर में आती हैं। दुर्भाग्यवश अपनी गर्भवती बहू तक के रखरखाव और इलाज के लिए पैसा नहीं जुटा पाती जिसके

जरिये एक नया मेहमान दुनिया में आने वाला है लेकिन मृत आत्माओं के तर्पण के लिए या सम्मान के लिए फातिहा का इंतजाम करती है। यह एक दिखावा और धर्माधंता ही है। व्यकित की मृत्यु के उपरांत सम्पन्न कराये जाने वाले समस्त कर्मकाण्ड भी आडंबर से युक्त तथा मिथ्या विश्वास से प्रेरित हैं। विचित्र विडंबना तो यह है कि जीवन पर्यंत जो व्यक्ति असंतुष्ट रहा हो तथा साथ ही जीवन से जुड़े अनेक संघर्षों से जूझता रहा हो, मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा की शांति के नाम पर परिचितों और कुटुम्बियों को चहल्लुम (मृत्युभोज) दिया जाए। भारतीय समाज में चाहे वह हिन्दू सम्प्रदाय हो या फिर मुस्लिम वर्ग उपरोक्त रस्म बहुत ही खर्चीली रस्म है। कहने की जरूरत नहीं रह जाती कि संबंधित व्यक्ति की मृत्यु से दुखी परिवार के दुख और संताप में और वृद्धि होगी। शानी इस समस्या की बानगी करामत बेग की विधवा के जरिये रेखांकित करते हुए लिखते हैं- ''मिर्जा ने जितना कमाया था वह सब बीमारी में लग गया, जो जमा पूँजी थी वह भी चालीसवें मृत्युभोज में समा गई। अब आगे खुदा जाने क्या होता है।''[39]

हमारे समाज के एक बड़े वर्ग खासतौर से निम्न मध्यवर्ग में जादू, टोना, तंत्र मंत्र आदि गैर जरूरी कृत्यों और कुरीतियों को खासी तरजीह दी जाती है। ग्रामीण अंचल तथा अत्यंत पिछड़े हुए कस्बाई इलाकों अथवा छोटे शहरी क्षेत्रों में यह रस्म कुछ अधिक ही पायी जाती है। कोई भी पारिवारिक, आर्थिक अथवा शारीरिक समस्या जो अपेक्षित ज्ञान अथवा समुचित संसाधनों के अभाव में असाध्य प्रतीत होती है, तब अधिकांशतः इस तबके के लोग ओझाओं और पीर औलियों की शरण में आते हैं। इन लोगों की यह अंध श्रद्धा ही है जो इनके द्वारा किये गए उपचारों में अधिक आस्था रखते हैं। इनके मार्फत मनोवांछित फल प्राप्ति की आशा रखते हैं।

बब्बन के पिता अपने पारिवारिक दायित्व भुलाकर किसी अन्य स्त्री पर लट्टू हैं। बब्बन की अम्मी, उनका मन उधर से हटाने की हर संभव किन्तु नाकाम

कोशिश करती है। अन्ततः वे अपनी इस समस्या का सही निदान पाने की चाह लिए रहमत चाचा नाम के एक बुजुर्ग मुज़ाविर के पास अपनी यह फरियाद लेकर जाती है। रहमत चाचा, बब्बन की अम्मी के लिए खुदा से दुआ मांगते हैं, ''थोड़ा आगे बढ़कर मैंने देखा कि हरे कपड़े, फूलों तथा चाँदी की बेशुमार नालों से सजी हुई दो सवारियाँ दीवार से टिका दी गई है। अगल-बगल मोरछल रखे हैं। सामने उद्दानी में लोबान जल रहा है। चावल भरे छोटे से काँच के गिलास में अगरबत्ती खुसी हुई है और सामने दोनों हाथ फैलाकर दुआयें मांगते और झुके हुए रहमत चाचा खड़े हैं। रहमत चाचा ने उधर से ध्यान हटाकर वह बर्तन खींचा जिसमें अम्मी कुछ चढ़ावा लेकर आई थीं। उसमें से कुछ निकालने धरने के बाद ठीक से ढंककर सरका दिया और अगरबत्ती से गिर-गिरकर जमा हुई थोड़ी राख समेटकर पुड़िया बाँधते हुए बोले लो हो गयां''[40] बब्बन की अम्मी महज एक पुड़िया दिये जाने से चौंककर कहती है, ''रहमत चाचा पिछले साल भी आपने यही कहा था न।'' इसके उत्तर में रहमत चाचा का जो कथन है उसकी बुनियाद में जो आडंबर और खोखलान है वह उजागर हो जाता है।, ''कहा था जरूर कहा था।'' एक खोखली सी हँसी हँसकर, ''अब भी कहता हूँ अगली बार आओगी तब भी कहूँगा। बेटी जरा सब्र, यकीन ओर हिम्मत से काम लो अल्लाह की आँखें बंद नहीं हैं और फिर हम दुआ के सिवाए कर भी क्या सकते हैं।''[41]

यदि किसी समस्या का बुनियादी हल दुआ ही है तो किसी पीर फकीर के पास इसके लिए जाने की क्या जरूरत है। यह काम तो घर बैठकर स्वयं भी किया जा सकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय लोक जीवन और जनमानस में छद्म संस्कारों और सदियों से चली आ रही कुरीतियों के घर कर जाने के कारण आज भी हम इनसे पूर्ण रूपेण अपना दामन छुड़ा नहीं पाए हैं। संकटकाल में प्रायः व्यक्ति का आत्मविश्वास डगमगा जाता है और वह जादू-टोने या तंत्र-मंत्र जैसे अंधविश्वास को अपना संबल समझने लगता है।

शानी ने आगे रहमत चाचा की स्थिति के बारे में समझाने की कोशिश की है कि खुद का दुख दूर कर पाने में असमर्थ रहमत चाचा सरीखे लोग कैसे दूसरों के दुख मोचन या कष्टनिवारण करने का दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। दरअसल, यह समाज में दुखी लोगों की सहायता करने की मंशा नहीं बल्कि उसकी आड़ में अपना उल्लू सीधा करने की प्रवृत्ति है। रहमत चाचा जैसे लोगों के यहाँ धर्म जीविकोपार्जन का साधन है जिसके जरिये अधिक से अधिक आय की फिराक में रहने वाले ऐसे लोग शनैः शनैः समाज का विश्वास तोड़ते हैं। उपन्यास में संकेत है, ''वह जमाना गया कि मोहर्रम के बाद महीनो कमाने की चिंता नहीं रहती। पीर औलियों का सारा काम निभाना आसान नहीं है, अब बेटा भी नहीं पूछता।''[42] इस तरह शानी ने जीवन में घुली विसंगतियों और खोखलेपन की तहों में जाकर अपने इस उपन्यास में उनको रूपायित किया है।

मुस्लिम समाज में हास्यास्पद मान्यता है कि गिरगिट उनके सम्प्रदाय का शत्रु है। काला जल में मोहसिन, बब्बन से इसका जिक्र करता है, ''अब्बा कहते हैं कि हमारे पैगम्बर को इसी ने एक बार दुश्मनों से गिरफ्तार करवाया था। पैगम्बर बेचारे दुश्मनों से भागकर एक जंगल में छिपे थे चूंकि उनके पैरों से झाड़ियाँ दबकर बैठ गई थी और उनके देखे जाने का अंदेशा था सो उन्होंने मकड़ी से इल्तजा की कि उनके चारों तरफ जाले बुनकर उनहें छिपा दे। मकड़ी दोस्त और रहम दिल होती है उसने वैसा ही किया। जब दुश्मन आए तो भटक गए थे। उन्हें बिल्कुल पता नहीं लग पाता लेकिन पास ही साला एक गिरगिट था जिसने सिर हिलाहिलाकर उस ओर इशारा कर दिया। पैगम्बर गिरफ्तार हो गए। तभी से गिरगिट को मारो तो सबाब पहुँचता है।''[43] स्पष्ट है कि मुसलमानों में प्रचलित गिरगिट विषयक यह धारणा भ्रामक है।

मुस्लिम समाज में प्रचलित ऐसे ही कुछ संदर्भों को उठाकर शानी सोचने को बाध्य कर देते हैं कि क्या हम भी ऐसे ही या इसी किस्म की अन्य अनपेक्षित

मान्यताओं के शिकंजे में फंसे हुए हैं, अगर हाँ, तो फिर प्रश्न उठता है कि इक्कीसवीं शती का एक दशक बीत जाने पर भी वैश्वकीकरण के इस दौर में सामाजिक, सांस्कृतिक प्रगति की वास्तविक स्थिति क्या है? यह कहना अनुचित न होगा कि इस दृष्टि से अपनी तमाम प्रगति के बावजूद भी हम संक्रमण की स्थिति में जी रहे हैं।

(छ) समस्याओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति

साहित्य में संवेदना और भाषा का संबंध महत्वपूर्ण होता है। लेखक का जितना गहरा संबंध संवेदना और अनुभव से हेता है उतना ही भाषा से भी। भाषा के माध्यम से ही रचनाकार संवेदना के उच्च से उच्चतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बिन्दुओं को स्पर्श करता है।

किसी भी रचनाकार की भाषा का आधार समाज से ग्रहित वह भाषा होती है जो उसके चतुर्दिक परिवेश में व्याप्त रहती है और निरंतर क्रियाशील शब्दरूपों, वाक्यखडों एवं भाषिक ईकाईयों में उसकी चेतना में आहिस्ता-आहिस्ता प्रसार और विस्तार पाती रहती है। यही भाषा अपने समुचित रूप में उसकी अनुभूतियों, संवेदनाओं एवं चिंतन की भाषा होती है। सृजन के क्षणों में रचनाकार इन्हीं के भीतर से अपनी रचनात्मकता को भाषा के माध्यम से निकास का मार्ग देता है। रचनाप्रक्रिया के क्षणों में अनायास अर्जित यह भाषा रचनाकार के व्यक्तित्व से संश्लिष्ट होकर विशिष्ट रूप प्राप्त कर लेती है। सामान्यत: प्रत्येक रचना विशिष्ट संवेदना के अनुरूप अपने भाषिक तेवर में भी भिन्न होती है। रचनाकार की भाषिक सफलता का प्रश्न इस बात से जुड़ता है कि कृति की भाषा कथ्य को उसकी समग्रता में सम्प्रेषित करने में कितनी दूर तक समर्थ है।

शानी की भाषा का वैशिष्ट्य उसकी सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और बिम्ब निर्माण में है। 'काला जल' में बारीक संकेतो के जरिये गहन, गंभीर मानसिक

दशाओं की प्रभावपूर्ण व्यंजना की गई है। काला जल में यौन संबंधों के चित्रण में नग्नता एवं अश्लीता से परहेज का कारण सांकेतिकता का गुण ही है। एक स्थान पर छोटी फूफी की माँ उनसे पहली बार मिलने आयी है। बीदारोगिन से आतंकित फूफी अपनी माँ से बात भी नहीं कर पाती। दोनों के रुके हुए आवेग का चित्र सूक्ष्म एवं सांकेतिक है, ''दोनों एक-दूसरे को देखने लगीं बिल्कुल बेबात के चुपचाप। भीतरी मन की तमाम परते आहिस्ता-आहिस्ता खुलती जा रही थी लेकिन उन परतों को अलग-अलग करके धर देने का उपाय न था।''[44] इन मौन प्रतिक्रियाओं की पहचान और अभिव्यक्ति विशिष्ट भाषिक कौशल की अपेक्षा रखती है।

'काला जल' की भाषा समय की गति और सन्नाटे को अत्यंत सूक्ष्मता के साथ पकड़ती है। मौन का यह अर्थपूर्ण प्रयोग तथा व्यंजना निर्मल वर्मा की भाषा से टक्कर लेती दिखाई देती है। मौन स्थिति की मार्मिकता को घनीभूत कर देता है। सन्नाटे को एकाएक चीरती हुई किसी 'परिंदे' की आवाज या पत्ता खड़कने का स्वर, किसी ट्रक के घरघराने की ध्वनि, ये सभी मिलकर इस मौन को जीवित बना देते हैं। इस तरह मौन और ध्वनि के बीच का यह खेल शानी की भाषा में अर्थ की गहरी व्यंजना भर देता है। रौशन फूफा के घर आ जाने के बाद छा जाने वाला मौन भी इस उपन्यास में व्याप्त आतंक और कटुता की ओर हमारा ध्यान खींचता है। उपन्यास में सर्वत्र आच्छादित फूफी का मौन उनकी दृष्टि में उतरकर आंतरिक घुटन का संकेतक है। इस मौन की स्थिति में या तो संबंध पनप रहे होते हैं या फिर टूट रहे होते हैं।

प्रतीक व बिम्ब विधान लेखक की रचनात्मकता का ही रूप है। शानी की भाषा में प्रतीकों व बिम्बों के प्रचुर प्रयोग है। काला जल का प्रतीकत्व तो सारे उपन्यास पर छाया है, मोहर्रम का विस्तृत वर्णन भी एक प्रतीक है। उस पूरे मातमी वातावरण का जो पूरे देश के जीवन को अपने आगोश में लिए हुए है। वह उस

आडंबर का भी प्रतीक है जहाँ मोहर्रम किसी उत्सव अथवा पिकनिक के रूप में परिवर्तित होता प्रतीत होता है। सूक्ष्म भाव स्थितियाँ हों या परिवेश के बीच में उत्पन्न स्थिति, प्रतीकों व बिम्बों के प्रयोग द्वारा शानी की भाषा अपने अभिप्रेत को सम्प्रेषित कर देती है। क्रांतिचेता मोहसिन के टूटे हताश तथा विवश रूप को छटपटाते परिंदे के माध्यम से दिखाया गया है, ''बड़ी देर से पेड़ के ऊपर बैठा हुआ परिंदा सहसा पंख फड़फड़ाता हुआ अब जोर-जोर से चिल्लाने लगा था। हम लोगों ने देखा कि सधे हुए पंखों से लंबी उड़ान भरने वाला पखेरू शायद राह में सुस्ताने के लिए बैठा था लेकिन दुर्भाग्यवश टहनी से टूटे गोंद से चिपककर रह गया है।''[45] उसके फड़फड़ाते विवश डैने करुण क्रंदन, बब्बन को कई रातों तक सोने नहीं देते। यह परिंदा और कोई नहीं मोहसिन है।

उपमान मूलक बिम्बों के साहरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मनः स्थितियों और संवेदनाओं की सृष्टि करने में 'काला जल' की भाषा अप्रतिम है। छोटी फूफी की स्थिति बीदारोगिन के कठोर अनुशासन व आतंक के कारण ऐसी है, ''जैसे सारा शरीर रस्सियों से जकड़ा हो, मुँह पर पट्टियाँ बंधी हों, सिर्फ आँखे खुली रहे और भागने की कोशिश में आदमी केवल एक बार हिल-डुलकर विवश हो जाए जैसे डैने बंधी डाल दी गई कोई चिड़िया भूलकर उड़ना चाहे और सिर्फ फड़फड़ाकर रह जाए।''[46] कहीं-कहीं अत्यंत मौलिक उपमाओं का निर्वाह भी दृष्टिगोचर होता है, ''जहाँ पहले मशीन रखी जाती थी अब उतनी ही जगह खाली-खाली और उजाड़ है। परिचय के बावजूद कमरा यूँ लग रहा था जैसे मैंने सल्लो आपा के हाथों को बिना चूड़ियों के देख लिया हो या जैसे अपने स्कूल के ऐनक वाले शिक्षक मुखर्जी नंगी आँखें लिए मेरे सामने आ गये हों।''[47] प्राकृतिक दृश्यों व मनः स्थितियों को मूर्त करने के लिए मानवीकरण का आश्रय भी कतिपय स्थलों पर लिया गया है। ठण्डे चूल्हे वाले बब्बन के घर में पसरी उदासी व जड़ता का चित्र इस अंश में देखें, ''बाहर से धूप और रोशनी पहले की तरह आकर लेटी है फिर

भी अंधेरा मानो वहीं-कहीं अपने दिशा व्यापी डैने गिराये बैठा है जैसे घर नहीं निष्प्रभ बेजान शरीर है जिसे ठण्डा होने के बाद पलंग से उतार मुँह ढाँप-तोपकर धरती पर डाल दिया गया हो।''[48]

'काला जल' में तीन पीढ़ियों की कथा तीन खण्डों में विभक्त है। उपन्यास के मुख्य शीर्षक तथा तीनों खण्डों का नामकरण भी प्रतीकात्मक है, 'अलफातिहा: लौटती हुई लहरें', 'भटकाव: दिशाएँ चूमती स्रोतास्विनी' और 'ठहराव'। प्रथम खण्ड मुस्लिम समाज में फातिहा पढ़ने की रस्म अदायगी से प्रारम्भ होता है। मिर्जा करामत बेग, बीदारोगिन, रोशन बेग व रज्जू मियाँ मुख्य रूप से इसमें आते हैं। इन सबकी स्थिति तालाब की ऊपरी सतह पर उठने वाली जल की लहरों के समान है जो उठती तो है परन्तु वहीं भंवर के समान लौट जाती हैं। मानो किसी कुण्ठित चेतना से आविष्ट हों। दूसरे खण्ड में अपनी अवरुद्ध सीमाओं में छटपटाते मोहसिन और सल्लो आपा की बेचैनी, खोज और भटकाव कथा में छाया हुआ है गोया उनकी चेतना सभी तटों और उनके मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाली हर वस्तु को अपनी उत्ताल तरंगों से तोड़ती, पछाड़ती, दिगदिगंत को चूमने के लिए उद्वेलित, चंचल व वेगवती स्रोतस्विनी हो। तृतीय खण्ड ठांटे मारती उन लहरों के पराजयबोध, ठहराव एवं जड़ता को रेखांकित करता है।

'काला जल' के कथाविन्यास में स्थूल रूप में कोई बड़ी घटना नहीं घटती। इस अध्याय के आरम्भ में ही हम इस ओर संकेत कर चुके हैं कि स्थूल घटना के स्थान पर सूक्ष्म भाव स्थितियाँ प्रमुख हैं। शानी के कथाकौशल का वैशिष्ट्य है कि वे स्थितियों के भीतर से संवेदना को उभारते हैं। शानी के अन्य उपन्यासों में भी स्थितियों के हल्के स्पर्श से कंपित अनुभूतियों का चित्रण ही प्रमुख है। फूफी की मनोदशाओं से जुड़े सूक्ष्म चित्र 'काला जल' में मौजूद हैं। निरंतर आसपास मंडराने वाली असुरक्षा से उत्पन्न आशंका व भय आदमी के भीतर किस कदर ग्रन्थि का रूप ले लेते हैं उद्धृत अंश में डरी सहमी फूफी के जरिये देखा जा सकता है,

''बैठे-बैठे अचानक चौंक जाती है और घबराकर सशंकित आँखों से अगल-बगल ताकती है।''[49]

छोटे-छोटे संदर्भों के जरिये व्यापक प्रश्नों की ओर संकेत करना शानी की बेजोड़ शैली का परिचायक है। 'काला जल' में भी बहुत बारीक ब्यौरों द्वारा छोटे-बड़े प्रश्नों का स्पर्श किया गया है। प्राकृतिक तथा आन्तरिक परिवेश से उत्पन्न क्रियाओं के जरिये शानी की कथा संवेदना को बखूबी परखा जा सकता है। फूफी व रज्जू मियाँ के बीच चिट-चिट की आवाज कर जलती आग उस सन्नाटे में भी बहुत कुछ कह देती है।

''दोनों के बीच आग जलने की आहिस्ता आवाज के अतिरिक्त मौन था और छोटी फूफी जलती चिटचिटाती लकड़ियों और पीली लपटों को देखती बैठी रही।''[50] आग का प्रसंग उपन्यास में बेमकसद नहीं है बल्कि वह तिल-तिल कर मरती विवश छोटी फूफी की त्रासद स्थिति को उभारने के लिए रचा गया जीवंत प्रतीक है। इसी प्रकार कनेर की झूलती टहनियों पर चढ़ कर फ्रॉक का पल्ला फूलों से भर लाने के प्रयत्न द्वारा संबंधित प्रसंग के वर्णन के माध्यम से उपन्यासकार ने वर्तमान के असुरक्षा व भय के संवेदन बिन्दुओं को सघनता के स्तर तक पहुँचा दिया है।

आर्थिक शोषण और दरिद्रता के शिकार काला जल में चित्रित दोनों परिवार हैं। उपन्यास के आरम्भ में ही शानी सामन्ती व्यवस्था से महाजनी सभ्यता की ओर अग्रसर होने की स्थिति को प्रतीक के रूप में व्यक्त करते हुए संकेत करते हैं- ''और इन सबको अपनी बन्द आँखों से देखता खड़ा है एक साबित सटी खण्डहर जबसे होश संभाला था तब से अब तक इसे लगभग इसी रूप में देख रहा हूँ न नई इमारत बनती है और न पुरानी टूटती है।''[51] नई इमारत से शानी का तात्पर्य नई अर्थ व्यवस्था से है जो किसी भी देश और समाज के विकास के लिए उत्तरदायी बुनियादी शर्त है। लेकिन दुर्भाग्य वश उस समय भारतवर्ष में सामन्ती व्यवस्था का

शोषण चक्र अपनी तीव्र गति पर था। उस समय तक महाजनी सभ्यता के विकास के चलते इसकी पकड़ और अधिक मजबूत हो चुकी थी। मकान पहले से अधिक ढंढार खड़ा है, निर्योपयोगी और बेकार। न किसी के रहने बसने लायक और न ही एकदम उजाड़। मकान की माली हालत के जरिए शानी ने यह बताने की कोशिश की है कि मकान रूपी अर्थव्यवस्था जर्जर अवस्था में खड़ी है। जिससे आदमी की हालत दिन-ब-दिन खराब होती जा रही है और वह जीवन मरण के बीच झूलता रहता है।

''रोज की तरह जीवित खण्डहर के झींगुर-झिल्लियों और न जाने कितने अनाम कीट पतंगों की मिली जुली आवाज़ सारे मुहल्ले की शाम में और भी सन्नाटा उगल रही थी। अन्तर कहीं था तो सामने वाले मोटर गैराज में जो आज बिल्कुल नया-नया और बदला सा लग रहा था। गैरेज मालिक के नाम और फोन नम्बर वाले साइनबोर्ड पर सारी रात जलने वाले पच्चीस के बल्ब के बदले ऊँचे पावर की रौशनी फैली हुई थी। गैराज से ऊपर कई रंगों के बार-बार जलने बुझने वाले छोटे-छोटे बल्बों की लड़ियाँ थीं। गेट के अगल-बगल के अहाते की दोनों दीवारों पर कतार से मोमबत्तियाँ जलाई गई थीं। जिससे आधी अमराई का अन्धेरा जा चुका था।''[52]

उपन्यास की आरम्भ की पंक्तियों से शानी यह सब कह देते हैं कि जहाँ कल यानी आज़ादी से पहले पच्चीस का बल्ब जल रहा था आज आज़ादी के बाद ऊँचे पावर की रोशनी फैल गई है। लेकिन जिन बस्तियों में कल अंधेरा था वहाँ आज भी स्थिति बदली नहीं है ज़ाहिर है कि विषमता की गहरी खाई कम होने के बजाय और गहरी होती चली गई है। यह स्थिति केवल जगदलपुर कस्बे की नहीं बल्कि इस देश की भी है। ऊँची इमारतों की उधार रोशनी से जिन्दगी जी रहे झोपड़ पट्टियों के लोग लगभग हर छोटे-बड़े नगर में आसानी से मिल जायेंगे। हमारे आपके बोझ को ढोकर पेट पालने वाला इंसान आज भी हमारे सभ्य समाज

में दुर्लभ नहीं है। इस छोटे से वर्णन में शानी ने लगभग सम्पूर्ण भारतीय जीवन की आर्थिक विषमता का चित्र उभार दिया है।

संदर्भ

[1] शानी, काला जल, पृ. 227.

[2] वही

[3] वही, पृ. 28.

[4] वही, पृ. 150.

[5] राधाकुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास।

[6] शानी, काला जल, पृ. 79.

[7] वही, पृ. 4, 5.

[8] वही

[9] वही, पृ. 5.

[10] वही, पृ. 36.

[11] वही, पृ. 33.

[12] वही, पृ. 288.

[13] सिडनी ब्रैंडन, वॉयलेंस इन फैमिली।

[14] न्यायधीश देशपाण्डेय, वुमेन एण्ड द न्यू लॉ

[15] राजकिशोर, मिथक और यथार्थ।

[16] शानी, काला जल, पृ. 270.

[17] वही, पृ. 173.

[18] वही, पृ. 50 (भारत का स्वतंत्रता संग्राम - विपिन चंद्रा)

[19] पीटर हार्डी, हिस्ट्री राइटिंग, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

[20] सुमित सरकार, मॉडर्न इंडिया 1885-1947.

[21] शानी, काला जल, पृ. 232.

[22] वही, पृ. 253, 254.

[23] वही, पृ. 96.

[24] सर सैय्यद अहमद, साइंस एण्ड साइंटिफिक, एन.बी.टी. 2001.

[25] शानी, काला जल, पृ. 9.

[26] वही, पृ. 176.

[27] वही, पृ. 167.

[28] वही, पृ. 182.

[29] बंकिमचंद्र, आनंदमठ; ICHR, History Congress 2010 - हिस्टोरिकल रिव्यू

[30] जानकी प्रसाद शर्मा, शानी : आदमी और अदीब, पृ. 172.

[31] वही, पृ. 173, 174.

[32] वही, बंधा-सड़ा जीवन, पृ. 156.

[33] वही

[34] शानी, काला जल, पृ. 131.

[35] जानकी प्रसाद शर्मा, शानी : आदमी और अदीब,पृ. 149.

[36] शानी, काला जल, पृ. 289.

[37] राही मासूम रजा, आधा गाँव, पृ.

[38] शानी, काला जल, पृ. 292.

[39] वही, पृ. 39.

[40] वही, पृ. 196, 197.

[41] वही, पृ. 197.

[42] वही, पृ. 198.

[43] वही, पृ. 188.

[44] वही, पृ. 78.

[45] वही, पृ. 292.

[46] वही, पृ. 124.

[47] वही, पृ. 187.

[48] वही, पृ. 157.

[49] वही, पृ. 117.

[50] वही, पृ. 121.

[51] वही, पृ. 1.

[52] वही, पृ. 2.

अध्याय-3

मुस्लिम समाज की समस्याओं की अभिव्यक्ति में काला जल की सार्थकता

स्वातंत्रयोत्तर कथा साहित्य और भारतीय मुस्लिम जीवन

(मुस्लिम तथा गैर मुस्लिम कथाकारों के चुने हुए उपन्यास - झूठा सच, तमस, आधा गाँव, ओस की बूंद)

'स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और मुस्लिम जीवन' के संदर्भ में जो सबसे पहली बात मन में कौंधती है, वह है मुसलमान और उनकी भारतीयता। 15 अगस्त 1947 को विभाजन के बाद हिन्दुस्तान का परिदृश्य पूरी तरह बदल जाता है और भारतीयता या राष्ट्रीयता के रूप में एक नया सवाल लोगों की जिन्दगी से जुड़ता है। इस सवाल से सबसे अधिक भारतीय मुसलमान जूझते हैं। आज़ादी के बाद जो मुस्लिम परिवार भारत को अपनी जमीन समझकर बस गए, खासकर मध्यवर्गीय मुसलमान, उन्हें आज़ादी के बाद हर जगह यह साबित करना पड़ता था कि वह भारतीय हैं क्योंकि मुसलमान होने के कारण उन्हें गाहे-बगाहे शक की नज़र से देखा जाने लगा था। स्वतंत्रता के बाद भारत में मुस्लिम जीवन विभाजन की जिस त्रासदी पर आधारित है वह अतीत के बन्द दस्तावेज़ नहीं बल्कि वह एक खुली किताब है जिसमें बाबरी मस्जिद एवं गुजरात के घटनाक्रम जैसे स्तब्धकारी विभाजन के पाठ भी हैं।

भारतीय मुसलमान देश की आबादी का एक बड़ा और अहम हिस्सा है। भारतीय मुसलमान का विकास, पारिवारिक संस्थान समाज का प्रगतिशील होना देश के हित में एक बहुत जरूरी प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया में शामिल होना न केवल मुस्लिम लोगों के जीवन के लिए ही नहीं बल्कि भारतीय समाज के विकास के

लिए भी अनिवार्य है। भारतीय जीवन बोध का आर्थिक पक्ष उनकी दस्तकारी और कुटीर उद्योगों से जुड़ा हुआ है। मुस्लिम समाज में केवल पुरुषों को ही नहीं बल्कि महिलाओं को भी बेरोजगारी की समस्याओं से दो-चार होना पड़ता है। ये औरतें गाँव, कस्बे में, हर कार्यक्षेत्र में कड़ी मेहनत मशक्कत करती है। उन्हें पर्दा शरीयत कानून, वर्गों की असमानता के मुद्दे इतने प्रखर होकर परेशान नहीं करते हैं, जितना की इस बात की चिंता कि फसल अच्छी नहीं हुई तो खायेंगे क्या? बना समान बिका नहीं, तो बच्चों के लिए जोड़ेगे क्या? उनका रहन-सहन, खान-पान, सोच-विचार अपने धंधे से जुड़ी कठिनाइयों और समस्याओं के द्वारा निर्मित होता है। वास्तव में भारतीय मुसलमानें का जीवन जमीन से जुड़ा और उसकी समस्याओं से जूझता हुआ नज़र आता है।

भारतीय मुस्लिम समाज का जीवनबोध पिछले साठ-पैंसठ वर्षों में कमोवेश कुछ हद तक दूर हुआ है परन्तु वे फिर भी मुख्य धारा में कम ही शामिल हो पाए हैं। इस सवाल का जवाब यह हो सकता है कि मुस्लिम समाज में व्याप्त अंधविश्वास और उसका फायदा उठाते सियासी लोग और अशिक्षित मौलवियों जो धर्म के व्याख्याकार बनकर समाज के धार्मिक ठेकेदार बन बैठे हैं। स्वतंत्रता के बाद बड़ी संख्या में मुस्लिम समाज का शिक्षित वर्ग पाकिस्तान चला गया, फलस्वरूप भारतीय मुस्लिम समाज न केवल संख्या में कमजोर हुआ बल्कि मुस्लिम समाज का मध्यवर्गीय ढाँचा भी भरभरा कर गिर पड़ा। जमींदारी हट गयी, छोटे इलाकों के नवाबों, ताल्लुकेदारों की कमर इस विभाजन के बाद हुए बदलाव से टूट गई। नैतिकता को संभालने वालों को अपनी कमियों पर ऊँगली रखने वाला सामाजिक आलोचक, कर्म को सियसत से अलग करने वाला धर्म का ठेकेदार, अपने साथ हो रहे अत्याचारों के विरोध में उठने वाली विरोध की आवाज समाज से विलुप्त हो गई थी। मुस्लिम समाज एक मानसिक संताप से गुजरने लगा था। जिसका असर आज के मुस्लिम समाज पर भी देखा जा सकता है। बँटवारे के दर्द

को सबसे अधिक मुस्लिम समाज की औरतों को भुगतना पड़ा। बँटवारे के बाद उत्पन्न हिंसा में अपनी औरतों पर हुए अत्याचार कोड़े लगाते और अपने साथियों द्वारा पराई औरत की इज्जत लूटते देखने की बेबसी में मुस्लिम समाज के मर्द एक मनोग्रंथि के शिकर हो गए और वे औरतों की हिफ़ाजत को लेकर अत्यधिक सर्तकता बरतने लगे। उन्होंने अपनी वेबसी और कमजोरी की कुंठा औरतों पर लादनी शुरू कर दी। इस पतन के समय में कोई ऐसा व्यक्तित्व नहीं बचा था, जो मुसलमानों के गिरते मनोबल को बढ़ावा देता।

जमींदारी चली जाने से उनकी आर्थिक स्थिति बदतर हो गयी। धार्मिक आधार कर बँटवारे के कारण उन्हें हमेशा संदेह की नजर से देखा जाने लगा। कुछ साम्प्रदायिक लोग इसका फायदा उठाकर उन्हें राजनीति का मोहरा बनाने लगे। स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाँव' और 'ओस की बूँद' में भारतीय मुस्लिमों के जीवन में आए बदलाव का बहुत मार्मिक अंकन मिलता है।

राही मासूम रज़ा से पूर्व मुस्लिम जीवन का अंकन यशपाल के महाकाव्यात्मक उपन्यास 'झूठा-सच' (1958-1960) में भी है। परन्तु 'झूठा सच' में मुस्लिम जीवन व समाज का जिस समय से चित्रण किया गया है वह भारतीय इतिहास का बहुत उत्तेजना पूर्ण और संक्रमित काल है। इस संक्रमित काल में मिली आज़ादी की बहुत बड़ी कीमत देश को चुकानी पड़ी। 'मुस्लिम लीग' के दो राष्ट्र के सिद्धान्त के आधार पर देश का बँटवारा ही नहीं हुआ बल्कि भारतीय मुसलमानों का जीवन साम्प्रदायिकता की ऐसी ज्वाला में झुलसने को अभिशप्त हुआ जिसकी मिसाल भारतीय इतिहास में और कहीं नहीं मिलती। उपन्यास के पहले खंड 'वतन और देश' में भोला पांडे की गली और लाहौर की राजनीतिक, सामाजिक ज़िन्दगी तथा विभाजन के साथ ही उसके टूटने बिखरने और चूर-चूर हो जाने का वर्णन है। इस वर्णन में भारतीय मुसलमान का जीवन अभिव्यक्त हुआ है।

परन्तु यह अभिव्यक्त जीवन उपन्यास में साम्प्रदायिकता की आग में झुलसा हुआ नजर आता है। ''उपन्यास में लेखक ने साम्प्रदायिक समस्याओं को संपूर्णता के साथ रेखांकित किया है। सांप्रदायिक आधार पर देश विभाजन की बनती हुई पृष्ठभूमि उग्र होती सांप्रदायिकता विभाजन के फलस्वरूप दोनों तरफ का नरसंहार, लोगों के बीच बढ़ती हुई दूरी, आपसी अविश्वास, मानवीय मूल्यों का ह्रास आदि अनेक ज्वलंत विषयों को कथा-सूत्र में सावधानी पूर्वक पिरोया गया है। लेखक की मान्यता है कि ये सारी कल्पनाएँ सच होकर भी झूठ है। सच है- जनता को बहकाकर अपनी स्वार्थपूर्ति करने वाली नेताओं की अदम्य अमानुषिक लालसा।''[1]

उपन्यास में साम्प्रदायिक चेतना को किस प्रकार सुनियोजित ढंग से उभारा जाता है। इसका उदाहरण वे दो औरतें हैं जो हिन्दू औरतों को फल बेचने वाले मुसलमान के विरूद्ध भड़काती है। ''बहिनों क्या तुम्हें नही मालूम कलकत्ते में मुसलमानों ने हजारों हिन्दू भाईयों को कत्ल कर डाला, हमारी सैकड़ों बहु-बेटियों को बेइज्जत कर डाला है। अफसोस है, तुम्हारी गली में यह लोग अब भी सौदा बेच रहे हैं।''[2] एक और उदाहरण है ''क्या भोली बातें करती हो बेटी वे पाकिस्तान बना रहे है। हमारा घर-बार ही नहीं रहेगा तो मुल्क का क्या बनायेगें, कहाँ रखेंगे मुल्क को? अंग्रेज के लिए जैसे हिन्दू, वैसे मुसलमान पंजाब, में जब से सिकंदर और ..... वजीर बने किसी हिन्दू को नौकरी मिलती है? पहले समय में कहीं मुसलमानों को दफ्तरों के बाबू का काम करते देखा था? चपरासी का काम करते थे, टांगे चलाते थे और दूसरे कमीन का काम।''[3] इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि यशपाल 'झूठा सच' जैसे महाकाव्यात्मक उपन्यास के माध्यम से साम्प्रदायिकता को केवल धार्मिक आधार पर नहीं देख रहे थे बल्कि उसके राजनीतिक एवं आर्थिक पहलुओं की तरफ भी संकेत कर रहे थे। दोनों धर्मों की जनता के समक्ष रोजगार को लेकर संकट उत्पन्न हो गया। और दोनों धर्मों के लोग यह सोचने लगे कि वे कौन-कौन से रोजगारों का चुनाव करें तथा उनमें

किस तरह के अपेक्षित परिवर्तन करें? इस तरह दोनों धर्मों के बीच रोजगार और श्रम का विभाजन हो गया। इस तरह श्रम भी एक विभाजन रेखा के तौर पर दो कौमों के बीच बँट जाता है। जैसा कि 'आधा गाँव' में मुसलमान जमींदार हैं तो उनके कामकाज हिन्दू करते हैं।

यहाँ यह देखना दिलचस्प होगा कि आज़ादी एवं बँटवारे के बाद भरतीय मुसलमान अपने आम जीवन में कौन सी समस्याओं से दो-चार होते हैं। इस संदर्भ में इन्तियाज अहमद का कथन है कि ''यह कहा जायेगा कि भारतीय मुसलमान लोगों के साथ सही सलूक नहीं हो रहा हैं नौकरियों की भर्ती में उनके साथ भेदभाव बरता जा रहा है, सेवाओं में उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है विशेषकर उच्च स्तर की प्रशासनिक सेवाओं में उनके निजी कानून को और उनकी भाषा को जिसमें उनकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत है, खतरा है''[4] परन्तु इस सच्चाई के साथ-साथ एक सच्चाई और है जिसकी ओर इम्तियाज अहमद संकेत करते हैं। ''सच तो यह है कि वे फिकरे जाति, की क्षेत्रीयता और भाषाई विभेदों में इतने अधिक विभक्त हैं कि कभी-कभी उनमें भी बड़ा टकराव होता है और प्रायः उनमें स्पष्ट मतभेद और प्रतिद्वन्दिता रहती है। आगे वे कहते हैं कि ''भारतीय मुसलमान एक समुदाय बनने की प्रक्रिया में है, जो उनका धार्मिक कर्त्तव्य है, वास्तव में भावनात्मक अर्थ को छोड़कर किसी अर्थ में समुदाय नहीं है।''[5]

मुस्लिम जीवन के इस सच को पकड़ने का काम यशपाल 'झूठा सच' में करते है, परन्तु भिन्न अर्थ में। इस सच के पीछे छिपे उस आर्थिक एवं राजनीतिक आधार को स्पष्ट करते हुए यशपाल कहते हैं- ''मुसलमान ने हिन्दुओं को लूटा है. .. पर हिन्दू सैकड़ों बरसों से इन लोगों को लूटते निचोड़ते चले आ रहे हैं नहीं तो एक ही जमीन पर रहने वालों में अमीरी-गरीबी का इतना फर्क क्यों होता है? पंजाब की सब जायदाद हिन्दुओं के ही हाथ क्यों चली जाती। गरीब पहले गुस्से में मुसलमान हुआ- गुस्सा मजहब का भी है और गरीबी का भी है।''[6] यहाँ इन

पंक्तियों में मुस्लिम जीवन की संवेदना उसकी सामाजिकता से दूषित हुए बिना अपने शुद्धतम रूप में है। जो उस मानसिक अलगाव को भी अव्यिक्त करती है जो हिन्दुओं की मानसिकता में घर कर चुकी है। 'झूठा-सच' में अभिव्यक्त मुस्लिम जीवन की मौलिकता इस तथ्य में अर्न्तनिहित है कि इसका कथा वृतांत विभाजन के उस महा अभियान को ही व्यक्त करता है जो उसे महज अंग्रेजी चाल और 'मुस्लिम लीग' की मजहबी मांग तक ही सीमित करता है। इन अर्थों में 'झूठा सच' का धरातल भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' से भिन्न है। तमस के विभाजन सूत्र अंग्रेज डिप्टी कलेक्टर रिचर्ड और मुराद अली के पास हैं जो दंगा कराने से लेकर 'अमन कमेटी जिन्दाबाद' तक का नारा लगाते है। 'तमस' का विभाजन विमर्श अंग्रेजी बनाम हिन्दुस्तानी और साम्प्रदायिक बनाम राष्ट्रवाद का जो दुहरा विभाजन करता है वह मूलतः विभाजन के आन्तरिक कारकों की अनदेखी करता है। 'झूठा सच' का विभाजन विमर्श 'तमस' की उस स्थापना के पार चला जाता है जिसके अनुसार ''फसाद करनेवाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज।''[7]

यशपाल, भीष्म साहनी की तरह केवल बाहरी स्थितियों को नहीं देखते हैं बल्कि वह ऊपरी सतह को खुरचकर उन सभी की इच्छाओं को उजागर करते हैं जिनके बिना ना तो विभाजन के आख्यान को समझा जा सकता है ना ही उपन्यास में अभिव्यक्त मुस्लिम जीवन को। परन्तु यशपाल का 'झूठा सच' हो या भीष्म साहनी का 'तमस', दोनों उपन्यासों में कम्युनिस्ट हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ चल रहे हैं और साम्प्रदायिक हिंसा के विरुद्ध हैं, पर यही मुसलमान साथी या हिन्दू साथी 'कम्यून' छोड़ते है और अपनों के बीच सुरक्षा महसूस करते हैं। 'झूठा-सच' में विभाजन के बाद उत्पन्न हालातों के बीच असली जीवन का सच उभरकर सामने आता है। जहाँ विभाजन की विभीषिका अभिजात्य और अभावग्रस्तों के बीच भेद करती है। विभाजन की यातना के भिन्न स्तरों के विश्लेषण के लिए यशपाल

सरहद के दोनों तरफ के शरणार्थी काफिलों पर अपनी दृष्टि टिकाते हैं। जालंधर, लुधियाना और अम्बाला जिलों से पाकिस्तान की ओर जा रहे मुस्लिम सरणार्थियों के काफिले को देखकर हिन्दू समाज सेविका कौशल्या देवी और उनके ड्राइवर के बीच का संवाद बेहद महत्वपूर्ण है जो एक अन्य जीवन को अभिव्यक्त करता है।' ''मार-काटकर निकाले गए बेचारे! इधर से हिन्दू उधर से मुसलमान पर बहिन जी हिन्दुओं के भी काफिले देखे होंगे आपने, इनको भी देख लीजिए। हिन्दू मारे गए, लूटे गए, उनकी औरतें छीनी गईं, उनकी औरतों पर जुल्म हुआ पर जो आए है, अक्सर सवारियों पर गाँव के किसान बैलगाड़ियों पर आए रहे हैं। हिन्दू सिख रख लाए हैं बक्से, संदूक, नकदी जेवर और भांड। यह लोग मिट्टी के हुक्के, टूटी चारपाइयाँ, चूल्हे, चक्की, मुर्गियाँ लिए चल रहे हैं। यही इनकी गृहस्थी थी। जिसके पास जो होगा उसी से ममता करेगा, वही तो उठाकर ले जाएगा। ठीक ही तो कहते थे होते का नाम हिन्दू, मुफलिसी का मुसलमान।''[8]

जब हम किसी भी जीवन विशेष पर बात कर रहे होते है तब हम उसको पूरी समग्रता में सामने रखते हैं। यशपाल का 'झूठा-सच' और भीष्म साहनी का 'तमस' मुस्लिम जीवन की अभिव्यक्ति उस अर्थ में नहीं कर पाते हैं विशेषकर जिस अर्थ में राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाँव' और 'ओस की बूंद' करते हैं। आधा गाँव मुस्लिम जीवन की समग्रता को अपने शीर्षक से ही प्रकट करता है। यहाँ 'आधा गाँव' प्रतीकात्मक है। यहाँ के मुस्लिमों का मानना है ''हम ऐसे मुल्क में रहते है जिसमें हमारी हैसियत दाल में नमक से ज्यादा नहीं है। एक बार अंग्रजों का साया हटा तो ये हिन्दू हमें खा जायेंगे। इसलिए हिन्दुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी जगह की जरूरत है जहाँ वे इज्जत से जी सकें।''[9] यह पाकिस्तान की मांग थी। पाकिस्तान के बनने का अर्थ केवल मुस्लिम राष्ट्रवाद से नहीं है बल्कि विभाजन के साथ अस्मिता बोध से भी है। वहीं उपन्यास में जो महत्वपूर्ण सवाल उभरता है वह यह कि गंगौली में अब तक कोई अंग्रेज देखा नहीं गया था।

और अंग्रेज हिन्दुस्तान में नहीं थे, तब आख़िर हिन्दुओं ने मुसलमानों को क्यों नहीं मार डाला? और बुनियादी सवाल यह था कि जिन्दगी मौत खुदा के हाथ में है या अंग्रेजों और जिन्ना साहब के हाथ में?''[10]

'आधा गाँव' में अभिव्यक्त भारतीय मुसलमान की उलझन व भारत विभाजन की गुत्थी को न तो रहमत अली और मु. अली जिन्ना जैसे नेताओं के दो राष्ट्रों के सिद्धान्त से सुलझाया जा सकता है और न ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे संगठनों के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में इसका हल ढूंढा जा सकता है। क्योंकि 'आधा गाँव' के मुस्लिम जीवन का यह पेशोपेश कि ''क्या सचमुच हिन्दुस्तानी मुसलमान इस जमीन का नहीं है?'' भारतीय मुसलमान की जिस पीड़ा को उजागर करता है उसे केवल हिन्दू-मुस्लिम की एक रेखीय सोच के सहारे नहीं समझा जा सकता। 'आधा गाँव' के माध्यम से राही मासूम रज़ा भारतीय मुसलमान व विभाजन का देशज विमर्श रचते हैं जो किसी शहर से दूर होकर भी अपनी अस्मिता व जीवन मूल्य के प्रति बेहद सचेत है। 'आधा गाँव' का देशज विमर्श अभिजात्यता को तार-तार करता हुआ स्पष्ट कहता है। 'गंगौली मेरा गाँव है मक्का मेरा शहर नहीं है। यह मेरा घर है और काबा अल्लाह मियाँ का।''[11]

'आधा गाँव' के केन्द्र में भी शिया-सैयदों का सामंती कुलीन तंत्र है। लेकिन मुस्लिम जमींदारों की कुलीनता के पाखंड को जिस गहराई और नैतिक साहस के साथ राही मासूम रज़ा ने इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया है वह अपने आप में बेजोड़ है। विभाजन एवं मुस्लिम अस्मिता के प्रश्न को राही मासूम रज़ा न तो यशपाल एवं भीष्म साहनी की तरह हिन्दू-मुस्लिम खानों में बाँटते है और न ही अंग्रजों की 'फूट डालो राज करो' की नीति तक सीमित करते है। वे इसके सूत्रों की तलाश भारतीय समाज की सामंती संरचना व मुस्लिम समुदाय की आंतरिक बुनावट में करते हैं। जिस पाकिस्तान के निर्माण के आधार पर मज़हबी ज़हर फैलाया जा रहा था उसे राही मासूम रज़ा मज़हब के ही तर्कों से सवालों के घेरे में

खड़ा करते है। इस उपन्यास में सबसे महत्वपूर्ण बात यह नजर आती है कि उपन्यासकार ने मुस्लिम समाज की एक समर्थ सामाजिक व वैचारिक संरचना को प्रस्तुत किया है। राही मासूम रज़ा 'मुस्लिम लीग' के पाकिस्तान विमर्श को ग्रामीण संदर्भ प्रदान करते हुए इस्लामी समरसता व भाई-चारे के सतह को खुरचते है। इसके लिए वे गंगौली की उस आन्तरिक बुनावट को उघाड़ते है जिस पर सामन्ती समरसता 'मुसलमान-मुसलमान भाई-भाई' होता है। इस्लाम ऊँच-नीच को नहीं मानता का आवरण है शिया अशराफ की मुहर्रम की मजलिस का एक दृश्य 'आधा गाँव' में ''तीन दरे के जिस हिस्से में फर्श नहीं था, उसमें जुलाहे बैठे हुए थे। चमार और भरो के लड़के प्रसाद के लालच में तीन दरे के बाहर जमीन पर उकड़ू बैठे आपस में लड़ रहे थे।''[12]

'आधा गाँव' में मुस्लिम समुदाय के बीच बीच यह विभाजन धार्मिक अवसरों पर भी कायम रहता। गंगौली में मुहर्रम के अवसर पर भी दक्खिन पट्टीवाले जमीदारों के ताजिए राकी सजाय करते थे। कुलीन सैयदों एवं मेहनत-मशक्कत करने वाले जुलाहों व राकियों के बीच की इस दूरी के मूल में मुस्लिम समुदाय का अशराफ व निम्न रजिस के बीच का वह वर्गीकरण है जो हिन्दू समाज में सवर्ण व अवर्ण की तर्ज पर मुस्लिम समुदाय के मेहनत मजदूरी करने वाले वर्ग से जुड़ा हुआ है। उच्च सैयद परिवारों में जन्में बच्चों को अपनी कुल श्रेष्ठता का अहसास बचपन से ही कराया जाता था। 'आधा गाँव' के मासूम की जुबानी वह कुछ यूँ है ''उस दिन मैं पहली और आखिरी बार कबड्डी खेल रहा था। मैं कबड्डी बोल रहा था और लगातार पाले की तरफ खिसकता चला जा रहा था... फिर एकदम से दो बड़े खरखरे हाथों ने लड़कों को इधर-उधर फेक दिया 'अब तुंह लोगन अइसन लाट साहब हो गइल बाड़ा की मोर साहब के लड़कन से कबड्डी खेलबा'? यह आवाज गया अहीर की थी, ''आप मियाँ हुई, आप के इ ना चाही।''[13] उपन्यास के सन्दर्भ में एक विडम्बनात्मक सच यह है कि

जिस गया अहीर की लाठी के सहारे सैयद अशराफ जैसे कुलीन जिंदा थे या अपना प्रभुत्व गाँव समाज में चलाते वही लोग अंत में आपसी झगड़े के कारण गया अहीर का सिर फोड़ते हैं। कुलीन मुसलमानों में कुल श्रेष्ठता का भाव जिस सामन्ती सामाजिक संरचना का परिणाम है वह हिन्दू मुसलमान में भेद नहीं करती। 'आधा गाँव' की कथावस्तु में मौजूद सामन्ती मानसिकता से उपजे मुस्लिम समुदाय के इस विभाजन के आधार पर राही मासूम रज़ा 'मुस्लिम लीग' के अलगाववादी सिद्धान्त पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं। राही जहाँ अपने उपन्यास में मुस्लिम समुदाय की समरसता एवं भाईचारे का भेदन करते है वहीं अशराफ व सैयद वर्ग की नस्ली श्रेष्ठता व इस्लामी पवित्रता के पाखण्ड को भी उघाड़ते है। 'आधा गाँव' के पाकिस्तान विमर्श के मूल में मुस्लिम समुदाय का अशराफ व रजिस का यह विभाजन इस्लाम के भिन्न भारतीय स्वरूप को उद्घाटित करता है, जहाँ रोटी एवं बेटी की कैद नहीं है। 'आधा गाँव' में हाज़ी साहब का यह प्रश्न कि ''का पाकिस्तान में मियाँ लोग जोलहन से रिश्ता नाता करे लगिहें।'' के मूल में भारतीय मुसलमान का वह जाति विभाजन है, जो इस्लाम के उस भारतीयकरण का परिणाम है जहाँ धर्मान्तरण के बाद भी जाति से छुटकारा नहीं मिलता।

'आधा गाँव' में राही मासूम रज़ा जाति, समुदाय, अस्मिता एवं मुस्लिम जीवन के संकीर्ण एवं गोलबन्दी के लिए कर्म के दुरूपयोग का जो विमर्श रचते हैं वह बहुत सूक्ष्म स्तर पर पाकिस्तान के गठन एवं 'मुस्लिम लीग' की भूमिका तक विस्तृत है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जिन फुन्नन मियाँ को जाति बाहर कर दिया गया था, उनका बेटा सन् बयालीस के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में गोली का शिकार हुआ था और पाकिस्तान को लेकर उनकी स्पष्टोक्ति यह थी कि ''कहीं इस्लाम है कि हुकूमत बन जहिए। ऐ भाई बाप-दादा की कबर हियाँ है, चौर इमामबाड़ा हियाँ है, खेती-बाड़ी हियाँ है। हम कौनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिन्दाबाद में फँस जाएँ।''[14] 'आधा गाँव' के औपन्यासिक कथ्य को इन्हीं गुम

होती सच्चाईयों एवं पात्रों के सहारे पाया जा सकता है। राहीं मासूम रज़ा मुस्लिम जीवन की सच्चाईयों, विभाजन एवं पाकिस्तान विमर्श के जरिए आंतरिक ढंग से उजागर करते है। जहाँ गया अहीर, छिकुरिया चमार, झंझटिया वो, रहमान हज्जाम, परशुराम चमार व सैफुनिया नाइन के सहारे भारतीय मुस्लिम जीवन की छोटी-छोटी सच्चाइयों को सामने लाते हैं। जो 'झूठा सच' और 'तमस' में नदारद है। राही मासूस रज़ा इतिहास की प्रभुत्ववादी दृष्टि से मुस्लिम जीवन को देखने की कोशिश न करके स्थानीय घटनाओं के माध्यम से परिभाषित करते हैं। 'आधा गाँव' में अभिव्यक्त जीवन की मौलिकता इस तथ्य में है कि वह भारतीय मुस्लिम जीवन को केवल विभाजन, इस्लाम और पाकिस्तान विमर्श जैसे तथ्यों की पुष्टि के लिए नहीं लाते हैं बल्कि बहुत ही स्वाभाविक ढंग से वह उपन्यास में ओझल सच्चाईयों को दृश्यमान करते हैं। जिससे मुस्लिम जीवन के विमर्श की गुत्थियों को खोला जा सकता है। राही मासूम रज़ा भारतीय मुस्लिम जीवन के विमर्श के साथ उर्दू भाषा को उनके रोजमर्रा के जीवन में गूँथकर अत्यन्त सहजता के साथ उद्घाटित करते हैं। रज़ा के अनुसार उर्दू कुलीन व सुशिक्षित मुसलमानों द्वारा बोली जाती थी, ना कि व्यापक मुस्लिम जन द्वारा। सिद्ध करने के लिए रज़ा 'आधा गाँव' में व्यंग्य एवं उपहास की शैली अपनाते हैं जो अत्यन्त रोचक है। उपन्यास में फुन्ना दा और वाजिद दा के बीच का यह संवाद दृष्टव्य है ''ई का भाई, तू हियाँ कइसे बइठ गयो?''

''अरे, त कहीं अंदर बइठ जाओ।' फुन्नन दा ने कहा।

''क्यों बैठ जाऊँ मैं कहीं और!'' वाजिद दा ठेठ उर्दू में बोलने लगे।

''हई लयों तू त लग्या उर्दू बोले।''

आधा गाँव का भाषायी चिंतन पाकिस्तान उर्दू मुसलमान की मुस्लिम लीगी अवधारणा एवं हिन्दू सम्प्रदायिकों के हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' की उन्मादी सोच को

एक साथ ध्वस्त करता है। राही जहाँ पारम्परिक मुस्लिम सोच की हिन्दी के प्रति असहजता को रेखांकित करते हैं, वहीं वे मुसलमानों की नई पीढ़ी द्वारा हिन्दी अपनाए जाने की सूचना भी दर्ज करते हैं। उपन्यास का भाषा-चिन्तन भारतीय मुसलमान की कथित उर्दू-ग्रंथि को समझने में सहायक है।

'आधा गाँव' की औपन्यासिकता में मुस्लिम सामन्तों व दलितों के अन्तर्विरोध का विमर्श प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित है। राही मासूम रज़ा सामन्ती व्यवस्था के रखरखाव में दलितों व निम्न जातियों की सेवक की भूमिका को रेखांकित करने के साथ दलितों की सामाजिक चेतना एवं सशक्तिकरण का ताना-बाना भी बुनते हैं। दलित चेतना का विमर्श रचते हुए राही मासूम रज़ा इस तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि भारतीय समाज की सामन्ती संरचना हिन्दू व मुस्लिम का भेद किए बिना दलितों के राजनीतिक उभार को लेकर कितनी असहज थी। 'परसरमवा चमार के एम.एल.ए. बनने व जमींदारी टूटने के बाद हकीम साहब 'परुसरमवा के बाप सुखरमवा के कर्जदार हो गए' परन्तु चमार होने के कारण परसराम को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाना शेष था।

'आधा गाँव' के हकीम साहब, अब्बूमियाँ फुस्सुमियाँ और मौलवी बेदार सरीखे पात्रों के द्वारा राही मासूम रज़ा मुस्लिम जमींदारों के उस परजीवीपन की जड़ता को रेखांकित करते हैं। जमींदारी खात्मे से उपजी अपनी आर्थिक जर्जरता को पाकिस्तान से जोड़कर इस जमात का जो सेहरा अपने सिर बाँधा उसका मूल निचोड़ यही है कि ज़मीदारी चले जाने के बाद गाजीपुर में रहें या करांची कोई फर्क नहीं पड़ता। वहीं रज़ा मुस्लिम विमर्श की एकरूपता सरमरसता एवं अभिजात्यपन को फुन्नन मियाँ, मिगदाद और हज्जाम मियाँ सरीखे पात्रों की उपस्थिति से खारिज करते हैं।

'आधा गाँव' की मौलिकता का संदर्भ उसके भदेसपन से लेकर भाषायी प्रयोग तक व्यापक ढंग से फैला हुआ है। इस उपन्यास में अभिव्यक्त भारतीय

मुस्लिम जीवन कहीं ज्यादा बड़ा एवं स्वाभाविक कैनवस लिए हुए है। रज़ा मुसलमान जीवन को विभाजन एवं पाकिस्तान जैसे विषयों में सहायक तथ्य से निकालकर एक स्वतंत्र बोध के रूप में परिचित कराते हैं। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि भारतीय मुसलमान के संदर्भ में राही मासूम रज़ा एक पूरा विमर्श प्रस्तुत करते हैं, वह एक उपन्यास भर न होकर भारतीय मुसलमान की पूरी जिन्दगी का बयान है।

'ओस की बूँद' राही मासूम रज़ा का ही एक अन्य उपन्यास है, जिसमें हिन्दू-मुसलमान का द्वंद्व एवं देश विभाजन का दंश मौजूद है। यह उपन्यास एक ऐसे अनतर्विरोध पूर्ण समय की कहानी कहता है जब आदमी अपनी इंसानियत को छोड़कर हिन्दू या मुसलमान बन जाता है। वह इतना उन्मादी हो जाता है कि मुल्लाओं, महन्तों, राजनीतिज्ञों द्वारा फैलाए गए झूठ में फँस जाता है और सारी मानवीय संवेदनाओं को दरिया में डालकर वहशी बन जाता है। परन्तु उपन्यास में केवल मानवीय संवेदनाओं के दरकने का ही चित्रण नहीं है बल्कि उन संवेदनाओं को बचाने वाले भी हैं। वजीर हसन जैसे पात्र हिन्दू या मुसलमान न होकर स्वभावतः इंसानियत के नाम पर जीते है। जिन्हें अपनी धरती, अपने लोग वतन से प्यार है। और वह अपने वतन से जुड़े रहते हैं। इसी कारण उपन्यास में वज़ीर हसन का जीवन गंगा-जमुनी साझा संस्कृति का प्रतीक बन जाता है।

यह उपन्यास संपूर्ण रूप से मुस्लिम जीवन को अभिव्यक्त नहीं करता है बल्कि उपन्यास हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर गठित होता है। इस समस्या, झगड़े के प्रकटीकरण में मुस्लिम जीवन की समग्रता में अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। जैसा कि राही के ही उपन्यास 'आधा गाँव' में है। 'ओस की बूँद' 'आधा गाँव' की अपेक्षा छोटा उपन्यास है, लेकिन इस उपन्यास में स्वतंत्रता के बाद की बदलती हुई सांप्रदायिक स्थितियों का सूक्ष्म ढंग से विश्लेषण हुआ है।

उपन्यास में उपन्यासकार, वजीर हसन और दीन दयाल जैसे पात्रों के जरिये

यह संकेत करता है कि जहाँ संबंधों की गहराई है वहाँ 'मुस्लिम लीग' महासभा जैसी संस्थाओं का कोई वजूद नहीं हैं जबकि ''विभाजन ने भारतीय मुसलमानों के सामने जाने-अनजाने अनेक ज्वलंत प्रश्न खड़े कर दिए थे। 'मुस्लिम लीग' के कट्टर समर्थक के रूप में जिन मुसलमानों ने पाकिस्तान की मांग की थी, उन्हें यह विश्वास ही न था कि पाकिस्तान बन जायेगा या बन भी गया तो उन्हें अपना मुल्क छोडना पड़ जाएगा इसीलिए पाकिस्तान बन जाने पर हयातुल्लाह अंसारी पछता रहे हैं तो वजीर हसन झल्ला रहें हैं। हयातुल्लाह अंसारी जिन्ना टोपी उतारकर गाँधी टोपी पहन लेते हैं। अवसर के अनुसार परिवर्तित हो जाते है पर वज़ीर हसन की टेक दूसरी है।''[15] उपन्यास में सच्चाई विडम्बनात्मक ढंग से सामने आती है। इस सच्चाई को वजीर हसन अकेले ही झेलते हैं। इस विडंबना में वह पीढ़ीगत अंतर भी है जो पाकिस्तान के बन जाने के बाद मुसलमान जीवन में उतर आई थी। जिसकी तरफ वज़ीर हसन संकेत करते है। ''लेकिन तुम यह बात नहीं समझ सकते, क्योंकि हमें हमारे बुजुर्गों से कुछ रवायते मिली थीं। और तुम्हें अपने बुजुर्गों से सियासी नारे मिले। कुसूर तुम्हारा नहीं, कुसूर हमारा है।''[16]

उपन्यास में भारतीय मुसलमान की दो पीढ़ियों के चित्रण के माध्यम से राही मासूम रज़ा बदलते हुए समय को रेखांकित करते हैं। इस बदलाव में केवल वही टिक पाता है जिसकी जड़े गहराई के साथ अपने वतन की सरजमी से जुड़ी हुई हैं। इस बदलाव में सांप्रदायिकता के बदले हुए स्वरूप को भी समझा जा सकता है जो आज़ादी के बाद भारतीय मुसलमान के साथ अनायास ढंग से जुड़ गई है जिसमें भारतीय मुसलमान को शक, नफरत, डर के अलावा कुछ मिला ही नहीं हैं यही कारण होता है कि वज़ीर हसन का लड़का अलीवाकर पाकिस्तान का समर्थक नहीं होने के बावजूद पाकिस्तान चला जाता है। एक विस्थापन की जिन्दगी जीने। और जो मुसलमान भारत को अपनी सरज़मी मानकर हिन्दुस्तान की जमीन में अपना वजूद तलाशते हैं वह भारतीय होने के बावजूद अघोषित रूप से विस्थापित

हो जाते हैं। स्वतंत्रता के बाद भारतीय मुसलमान की नियति बन जाती है चाहे वह मुसलमान पुरुष हो या नारी। वह अभिशप्त हो जाते हैं यह अघोषित जिंदगी जीने के लिए, जिन्हें अक्सर बेवजह ही संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

(ख) मुस्लिम समाज की समस्याओं के चित्रण में 'शानी' का वैशिष्ट्यः-

स्वतंत्रता के पश्चात् मुस्लिम सन्दर्भों से जुड़े आरम्भिक उपन्यासों में विभाजन की पृष्ठभूमि में धार्मिक उन्माद संबंधी दोनों वर्गों के क्रूर व हिंसक आचरणों व शरणार्थी जीवन की समस्याओं का संवेदनशील चित्रण हुआ है 'झूठा सच' (यशपाल) 'सत्ती मइय्या का चौरा' (भैरव प्रसाद गुप्त), 'तमस' (भीष्म साहनी) आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। एक दूसरा वर्ग उन उपन्यासों का है जो विभाजन के बाद भारत को अपना वतन मानकर यहीं रह जाने वाले अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय जीवन को उसकी अन्तरंगता एवं सूक्ष्मता के साथ चित्रित करता है। इनमें 'गुलशेर खाँ' शानी, राही मासूज रज़ा, मंजूर एहतेशाम, नासिरा शर्मा, अब्दुल बिस्मिल्ला, असगर वजाहत तथा बदीउज्ज़मा के उपन्यास गणनीय है।

शानी का 'काला जल' मध्यवर्गीय मुस्लिम वर्ग का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। बस्तर के पिछड़े अंचल में दो मुस्लिम परिवारों की कथा के जरिए मुस्लिम समुदाय के जीवन से जुड़े अन्तर्विरोधों, विषमताओं तथा आशा आकांक्षाओं का चित्रण है। शानी ने 'हंस' जनवरी 1988 के अंक में कथा साहित्य में मुस्लिम चरित्रों की गैरमौजूदगी पर प्रश्न खड़े किए हैं। एक मुस्लिम हिन्दी लेखक के रूप में पहली बार शानी ही इस अभाव की पूर्ति करते दिखाई देते हैं। आज हिन्दी साहित्य में मुस्लिम हिन्दी लेखकों की एक लम्बी परम्परा हम पाते हैं। इसकी नींव की पहली ईंट रखने का श्रेय शानी को ही जाता है। 'काला जल' में अनुभूति की ईमानदारी व सच्चाई उसके रगों-रेशों में अनुभव की जा सकती है। 'काला जल' में मुस्लिम जीवन के स्थूल यथार्थ अथवा सतही वर्णनों के स्थान पर सूक्ष्म संवेदनाओं का चित्रण हुआ है। विशेष जीवन-पद्धति, व्यवहार एवं संस्कृति तथा चिंतन शैली के

चित्रण में चहल्लुम, मिलाद मुहर्रम तथा फ़ातिहा आदि का वर्णन ब्यौरा तथा विशिष्ट रंगत में मध्यवर्गीय परिवेश से जुड़ी हुई जीवन स्थितियाँ सामाजिक यथार्थ के नाना अनदेखे पहलुओं को उद्घाटित करती हैं। ''मनुष्य की सोच और जीवन व्यवहार को केवल उसकी आर्थिक स्थिति ही निर्धारित नहीं करती बल्कि उसके धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों की एक सुदीर्घ परम्परा होती है जो कि उसके व्यक्तित्व की निर्मिति में एक सक्रिय भूमिका अदा करती है। अपनी धार्मिक पहचान के विरुद्ध निरन्तर आत्मसंघर्ष करने के बाद भी व्यक्ति उसकी छाया से मुक्त नहीं हो पाता। यह भी एक सच्चाई है कि इस छाया के साथ जोड़कर देखने के बाद एक व्यक्ति भरा पूरा मनुष्य लगता है। यह हमारे समाज की विविधतापूर्ण बनावट है जिसमें एक-एक पक्ष को बारीकी के साथ देखने की जरूरत है। एक सम्प्रदाय के विश्वास और रीति-रिवाज़ एक अंचल विशेष अर्थात् किसी दूसरे अंचल में भिन्न पाये जाते हैं। अनोखापन लिए होते है। इसी लिए चीजों को एक ही कोण से देखना यथार्थ की जटिलता को समझने की अक्षमता ही कही जा सकती है।'' इस रूप में अपने ही परिवार में निरंतर भय और असुरक्षा के बीच जीवन जीने वाली तथा पुत्र के होते हुए भी अपनी बेटी की रूह को कथावाचक अर्थात् बब्बन के हाथों फ़ातिहा दिलाने वाली छोटी फूफी एक छोटे से कस्बे में विभाजन के बाद स्कूल में सहपाठियो के व्यंग्य वाक्य सहने वाले बब्बन और स्वाधीनता आन्दोलन के लिए किए गए अपने देश-प्रेम के कार्यों को मूर्खता मानकर पाकिस्तान का स्वप्न देखने वाले मोहसिन का यथार्थ समाज के अन्य वर्गों से भिन्न है। शानी ने मुस्लिम समाज के यथार्थ की अनेक सूक्ष्म परतों को उघाड़ा है। इस प्रकार वैविध्यपूर्ण भारतीय समाज में अपने कथा साहित्य के जरिए इस वर्ग की तस्वीर को मुकम्मल बनाने की कोशिश की है। 'काला जल' के जरिए शानी हमें पहली बार उस अपरिचित संसार में ले गये हैं जिससे या तो हमारा आंशिक परिचय है या पूर्व निर्मित साँचों के अनुरूप उसकी रूपरेखा हमारे जेहन में अंकित

है। मुस्लिम परिवेश के भीतर वर्गगत, जातिगत विविधताओं का चित्रण शानी के कथा साहित्य में मौजूद है। इस विशिष्ट परिवेश की बाहरी संसार से मुठभेड़ के चलते कुछ अन्तर्विरोध प्रकट होते हैं। मोहसिन और बब्बन की प्रतिक्रियाएँ उनकी परिचायक हैं।

'काला जल' में मुस्लिम समुदाय की गहरी अर्न्तवेदना है जो उसकी वतनपरस्ती पर शक किए जाने पर टीस के रूप में उभरती है। अविश्वास तथा सन्देह के कारण अपमानित होने की स्थितियों का सामना करने वाले अल्पसंख्यक वर्ग के मानसिक तनाव को मोहसिन व बब्बन के माध्यम से संकेतित कर शानी ने साहस का परिचय दिया है। उनकी कुछ एक कहानियाँ ऐसे अल्पसंख्यक समुदाय के चरित्रों से जुड़ी हैं जो ईमानदार हैं किन्तु ऐसी परिस्थिति में धकेल दिए जाते हैं कि आत्मरक्षा में या तो आक्रामक हो उठते हैं या पराजित या कुंठित दिखाई देते है। ऐसे सन्दर्भों की तहों में ही अल्पसंख्यक, आक्रामकता या कुण्ठा की मनोग्रन्थि की जटिलता का रहस्य है। मोहसिन का आक्रोश जहाँ एक ओर समुदाय विशेष के प्रति किये जाने वाले भेदभाव की ओर हमारा ध्यान खींचता है तो दूसरी ओर किसी व्यवस्था में व्यक्ति को सही जगह न मिल पाने की विडम्बना की ओर भी हमारा ध्यान ले जाता है। इस रूप में उसका सन्दर्भ व्यापक है। इस पीड़ा में शानी के निजी अनुभवों की आँच भी है। 'काला जल' परिवेशगत दबाव से उत्पन्न संवेदना के सूक्ष्म धरातल पर पड़ने वाले प्रभावों को रेखांकित करने वाला उपन्यास है। परिवेश विशेष का यथार्थ यथार्थतः अंकन करने वाली शानी की रचनात्मक दृष्टि हमारी मानवीय संवेदना को जागृत करती है। और किसी भी प्रकार की संकीर्ण मानसिकता का विरोध करने की प्रेरणा देती है। शानी ने विशिष्ट वर्ग की जीवन शैली को आधार बनाते हुए भी उन सभी दीवारों को तोड़ने का प्रयास किया है जो किसी भी स्तर पर आदमी को आदमी से अलग करती हैं या उसे छोटे बड़े में देखने की विभाजित दृष्टि की पैरोकार हैं। इसीलिए बहुत आसानी से फ़ातिहा

श्राद्ध, मोहर्रम कोई भी धार्मिक शोभायात्रा, चहल्लुम मृत्युपरान्त दिए जाने वाले ब्रह्मभोज के पर्याय बन जाते हैं और इस प्रकार एक वर्ग का दर्द दूसरे की पीड़ा बन जाती है।

'काला जल' के नारी पात्र पुरुष की सामन्तवादी मानसिकता के चलते आतंक उपेक्षा व घुटन का जीवन व्यतीत करते हैं। गौरतलब है कि यह केवल मुस्लिम जीवन की सच्चाई नहीं बल्कि प्रत्येक समुदाय का कड़वा सच है। किसी भी समुदाय की नारी किसी न किसी रूप में इसी प्रकार से प्रताड़ित है। बेरोजगारी तथा भ्रष्टाचार जनित समस्याओं से मोहसिन ही नहीं बल्कि आज का अधिकांश युवा जूझ रहा है। इस दृष्टि से 'काला जल' का फ़लक मुस्लिम समुदाय या बस्तर तक सीमित होने के बावजूद देशव्यापी बन गया है। रोज़ी रोटी के संघर्ष में लगा व्यक्ति न हिन्दू है न मुसलमान, वास्तव में साम्राज्य सत्ता में बने रहने की राजनीति करने वालों के जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। आम आदमी को इससे कुछ लेना देना नहीं किन्तु फिर भी वह साम्प्रदायिक राजनीति का नरम चारा बना हुआ है। मसलन 'काला जल' में मासूम गिरगिट व गौरेया मोहसिन की गुलेल का शिकार बनते हैं। 'काला जल' में छटपताते प्रश्न मानवीय गरिमा की स्थापना से जुड़े हुए हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग में मुस्लिम परिवेश से जुड़े उपन्यासों में 'झूठा सच' में तथ्यों के माध्यम से परिस्थितियों को प्रस्तुत किया गया है, 'तमस' में परिवेश के दबाव से संवेदना को उभारा गया है, 'काला जल' में व्यक्ति और परिवेश के बीच धीमी गति से निरन्तर चलने वाली अन्तःक्रियाओं के माध्यम से संवेदना उभरी है। शानी मुस्लिम परिवेश एवं जीवन के अन्तर्विराधों एवं समस्याओं को पूर्वनिश्चित समाधानों द्वारा सरलीकृत ढंग से प्रस्तुत नहीं करते अपितु उन्हें उनकी सम्पूर्ण जटिलता के साथ रखने का प्रयास करते हैं। राही मासूम रज़ा के उपन्यासों का मुस्लिम परिवेश जहाँ राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की भावना से भरा है वहीं शानी के

रचना संसार में अल्पसंख्यकों की भययुक्त मानसिकता तथा स्त्री मन के असुरक्षा जन्य तनाव की यथार्थ परिस्थितियों की सूक्ष्म परतों का उद्‌घाटन है। इस प्रकार शानी अपने कथा संसार में गहन संकटपूर्ण भाव स्थितियों का सामना करते हुए यथार्थवादी दृष्टि से अपने युग के प्रश्नों से जूझते नज़र आते हैं।

हिन्दी उपन्यास ने अपने विकासक्रम में शैशव काल से ही स्त्री की स्थिति को चिन्तनधारा से जोड़े रखा है। प्रेमचन्द और उनके बाद परवर्ती कथासाहित्य खासतौर से उपन्यास साहित्य में जैनेन्द्र से लेकर कृष्णा सोबती उषा प्रियंवदा, नासिरा शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में समाज में अपनी आर्थिक, सामाजिक सीमाओं के बोध के बीच स्त्री की यन्त्रणा, उदासी, घुटन, संघर्ष व विद्रोह को स्वर दिया है। मुस्लिम स्त्री ही नहीं शानी की मानव सुलभ व्यापक संवदेना किसी भी समाज में स्त्री की हैसियत व भूमिका को पुरुषों द्वारा निर्धारित किए जाने की ख़िलाफ़त करती है। उनके सभी उपन्यास किसी न किसी रूप में स्त्री की एक मनुष्य के रूप में स्वतंत्र सत्ता एवं प्रतिष्ठा के प्रति सहृदय बुद्धिजीवी की संवेदना जाग्रत करते हैं।

संदर्भ

[1] ओमप्रकाश सिंह, प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ, पृ. 146.

[2] यशपाल, झूठा-सच, पृ. 58.

[3] वही, पृ. 65.

[4] राजकिशोर (संपादक), मिथक और यथार्थ, पृ. 24, 25.

[5] वही, पृ. 25, 26.

[6] वही, पृ. 26.

[7] यशपाल, झूठा-सच, पृ. 457.

[8] भीष्म साहनी, तमस, पृ. 223.

[9] यशपाल, झूठा-सच, पृ. 457.

[10] राही मासूम रजा, आधा गाँव, पृ. 254.

[11] वही, पृ. 11.

[12] वही

[13] वही, पृ. 66.

[14] वही, पृ. 44.

[15] ओमप्रकाश सिंह, प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ, पृ. 160-161.

[16] राही मासूम रजा, ओस की बूँद, पृ. 20.

उपसंहार

गुलशेर खाँ 'शानी' ने 1955 ई. के आसपास लिखना प्रारम्भ किया। मुस्लिम समाज तथा उसकी समस्याओं के कारणों की पड़ताल तथा उन समस्याओं से निज़ात, शानी की चिन्तन-भूमि का एक महत्वपूर्ण बिंदु है। किन्तु इस आधार पर यह समझ लेना नितान्त भ्रामक होगा कि वे मूलतः मुस्लिम समाज के प्रतिनिधि रचनाकार हैं। उनकी रचनात्मकता पर यदि गौर किया जाए तो यह अनायास ही महसूस किया जा सकता है कि मुस्लिम समाज यदि शानी के चिन्तन का एक पक्ष है तो बस्तर के आदिवासी इस चिन्तन का दूसरा भाग। इस तरह शानी की रचनात्मकता किसी समाज अथवा वर्ग-विशेष को आधार बनाने के बजाए भारतीय समाज के समस्त निम्नवर्ग को आधार बनाने की चेष्टा है। आज जब वर्चस्ववादी सत्ता के विमर्श के बहाने हिन्दी कथा-साहित्य पर विचार किया जा रहा है तब यह कहना जरूरी हो जाता है कि यदि निम्नवर्गीय प्रसंगों (सबाल्र्टन) को आधार बनाकर शानी की रचनात्मकता का मूल्यांकन किया जाए तो अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

शानी ने यद्यपि 1955 ई. के आसपास लिखना प्रारम्भ किया तथापि उनकी रचनात्मकता का फ़लक 1910 ई. के आसपास से लेकर 1990 ई. के आसपास तक विस्तृत है। इस तरह स्वाधीनता पूर्व तथा स्वाधीनोत्तर भारतीय परिवेश का संक्षिप्त मूल्यांकन शानी की रचनात्मकता में संभव हुआ है। वे स्वाधीनतापूर्व से लेकर स्वाधीनोत्तर भारत के मुस्लिम समाज की समस्याओं तक उसके समस्त अन्तर्विरोधों का मूल्यांकन करते दिखाई देते है।

विभाजन की माँग से पूर्व तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के साझेपन को भारतीय समाज में महसूस किया जा सकता था। यह

साझापन वास्तव में हिन्दुस्तान की वर्गीय संरचना से सम्बद्ध है। हिन्दू और मुस्लिम जनता के ऊँचे वर्ग के बीच एक धार्मिक अलगाव साफ-साफ दिखाई देता है। लेकिन यही अलगाव सामान्य हिन्दू-मुस्लिम जनता के बीच नहीं दिखाई देता। इसके कारण क्या हैं? शानी अपने कथा-साहित्य में उक्त सवाल की गहराई तक नहीं जाते, यदि गये होते तब कदाचित् उनकी रचनात्मकता और अधिक समृद्ध हुई होती।

रहमत अली और मोहम्मद अली जिन्ना की विभाजन की माँग के परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम जनता के बीच धार्मिक विभाजन साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। स्वाधीनता प्राप्ति के समय के दंगे इस विभाजन का जघन्यतय रूप है। इस सबका परिणाम यह हुआ कि विभाजन के पश्चात् जो मुस्लिम भारत में रह गए उन्हें लगातार संदेह की नज़र से देखा गया तथा उन्हें कदम-कदम पर अपनी भारतीयता सम्बन्धी निष्ठा के प्रमाण देने पड़े। अल्पसंख्यक समुदाय हमेशा ही अपनी अस्मिता को बचाए रखने के प्रयत्न के रूप में कट्टरता को अपनाता आया है। यही कट्टरता स्वाधीनोत्तर भारत के मुस्लिम समाज में भी नज़र आती है। मुसलमानों के आर्थिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े रह जाने का भी एक बड़ा कारण यही है। सच्चर समिति की रिपोर्ट मुसलमानों के पिछड़ेपन की कहानी बड़ी शिद्दत से कहती है। शानी के 'काला जल' को यदि इस रिपोर्ट के साथ मिलाकर पढ़ा जाए तो स्थितियाँ और भी स्पष्ट होंगी।

'काला जल' उपन्यास की पहली विशेषता तो यही है कि इस उपन्यास में बस्तर के मुसलमानों के एक परिवार को कथानक का आधार बनाया गया है। यह इलाका हिन्दी कथा-साहित्य के लिए प्रायः अनछुआ सा ही है। शानी बड़ी शिद्दत से यह दिखाते हैं कि तत्कालीन भारत की प्रत्येक राजनीतिक गतिविधि का प्रभाव किस तरह इस इलाके की जनता पर पड़ता है। इस उपन्यास के संदर्भ में भी स्वाधीनता की सार्थकता के सवाल को उठाया जा सकता है। 1947 में देश के

शासक बदलते है, समाज के मायने बदल जाते है, यहाँ तक कि हिन्दुस्तान का मानचित्र भी बदल जाता है। पर इसी मानचित्र के हिस्से बब्बन और मोहसिन के परिवार भी है। जो है एकदम स्थिर और गतिहीन प्रायः ठहरे हुए से हैं। फूफी के घर के पड़ोस वाले तालाब के जल से सड़ांध के कारण दुर्गन्ध उठने लगी। ठीक यही स्थिति उस समाज की है जिसका चित्रण शानी इस उपन्यास में करते है। अतः यह केवल स्वाधीनता की सार्थकता का सवाल नहीं बल्कि तथाकथित विकास की सार्थकता का सवाल भी है।

इस उपन्यास में आँचलिक उपन्यासकारों की शैली में (प्रकृतिवादी) मुस्लिम समाज का चित्रण किया गया है। इसके बावजूद 'काला जल' एक आँचलिक उपन्यास नहीं है। ठीक अर्थ में यह एक सामाजिक उपन्यास है, जिसमें फूफी के परिवार की कथा के माध्यम से मुस्लिम समाज के अनेक पीढ़ियों तथा उनके दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिली। अखिल भारतीय स्तर पर चल रहा राष्ट्रीय आन्दोलन किस तरह बस्तर पहुँचा शानी इसकी भी झलक उपन्यास में देते हैं। भाषिक रचाव तथा चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से इस उपन्यास को शानी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास माना जाना चाहिए। भाषिक रचाव की सघनता ही इस उपन्यास को तथा उसमें विद्यमान समाज तथा उसकी समस्याओं को व्यापक रूप प्रदान करती है।

विभाजन की समस्या तथा उसके कारणों को जिस तरह यशपाल, भीष्म साहनी तथा राही मासूम रजा अनुभव करते हैं, उस तरह शानी अनुभव नहीं करते। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि शानी में ऐतिहासिक चेतना का अभाव था, पर इतना अवश्य है कि धार्मिक वर्चस्ववाद की सत्ता को लेकर 'काला जल' में कोई विमर्श नहीं है। इस उपन्यास के समानान्तर यदि राही मासूम रजा के उपन्यासों को रखकर देखा जाए तो उनके यहाँ उपरोक्त चित्रण बड़ी सघनता के साथ मौजूद है। 'आधा गाँव' के पात्रों के लिए पाकिस्तान के भविष्य का प्रश्न

गंगौली के भविष्य के प्रश्न से कुछ इस कदर सम्बद्ध है कि परस्पर बेतरतीब सी दिखने वाली स्थितियाँ सहसा यथार्थ का बेलौस अंकन कर जाती हैं। रज़ा के राजनीतिक व्यंग्य की मूल सतह यही है।

'झूठा-सच' में मुस्लिम समाज का अंकन शानी और राही मासूम रज़ा दोनों से कम है। इस दृष्टि से 'तमस' भी एक समृद्ध रचना है, पर भीष्म साहनी के इस उपन्यास की मूल समस्या यह है कि वे साम्प्रदायिकता की समस्या का चित्रण कुछ-कुछ कबीर की शैली में करते हैं। यदि वे किसी हिन्दू द्वारा किसी मुस्लिम का घर जलाए जाने का चित्रण कर रहे हों तो उनके लिए यह जरूरी हो जाता है कि अगले पृष्ठ में ही किसी मुस्लिम द्वारा किसी हिन्दू के घर को जलाए जाने का चित्रण भी करें। कहने का तात्पर्य यह है कि 'तमस' की रचना-प्रक्रिया के मूल में 'कबीर की आगि दूनौ घर लागी' वाली चिन्ता, साफ़ दिखाई देती है, लेकिन इतना अवश्य है साम्प्रदायिक विभाजन का जितना मनोवैज्ञानिक अंकन भीष्म साहनी कर सके हैं वैसा चित्रण हिन्दी में शायद ही किसी ने किया हो।

इन सबके बीच 'काला जल' की स्थिति मुस्लिम परिवेश के व्यापक चित्रण के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है, इस उपन्यास में शानी केवल मुस्लिम समाज की समस्याओं का चित्रण ही नहीं करते बल्कि यथासंभव उन समस्याओं के कारणों की पड़ताल भी करते है। वे मुस्लिम समाज के पक्षधर है जितने बड़े पक्षधर उतने ही बड़े आलोचक भी। आलोचना शायद पक्षधरता के बगैर जन्म नहीं ले सकती। शानी की उपलबिध यही है कि वे मुस्मि समाज के आलोचक के रूप में ही हमारे सामने आते है। आलोचना भी ऐसी जो पूर्वाग्रहों से उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि पूर्वाग्रहों को तोड़ने के लिए विकसित हुई। पक्षधरता एवं आलोचनात्मकता का यही तनाव 'काला जल' के शिल्प की खूबसूरती है।

शानी महत्वपूर्ण हैं मुस्लिम समाज के चित्रण की दृष्टि से; वे महत्वपूर्ण हैं

स्वातंत्र्योत्तर निम्न-मध्यवर्गीय यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से। अतः उन्हें पढ़ने के लिए किसी धारणा की नहीं विवेक की ज़रूरत है। यह विवेक ही मूल्यांकन की तमीज़ पैदा करता है। शानी का प्रयत्न भी किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के बजाए सवाल उठाने का ही रहा है। सवाल उठते रहें, उन सवालों पर बहसें होती रहें, शानी की रचनात्मकता तथा 'काला जल' दोनों का यही मूल उद्देश्य है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

गुलशेर खाँ शानी — काला जल
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली
बारहवां संस्करण : 2008

सहायक ग्रंथ

गुलशेर खाँ शानी — साँप और सीढ़ी
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण : 2007

गुलशेर खाँ शानी — नदी और सीपियाँ
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : 2011

गुलशेर खाँ शानी — एक लड़की की डायरी
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली
तृतीय संस्करण : 2007

गुलशेर खाँ शानी — शानी : सब एक जगह
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली, पहली जिल्द,
द्वितीय संस्करण : 1988

गुलशेर खाँ शानी — शानी : सब एक जगह
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली, दूसरी जिल्द,
प्रथम संस्करण : 1982

गुलशेर खाँ शानी	शालवनों का द्वीप नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 1986
गुलशेर खाँ शानी	एक शहर में सपने बिकते हैं नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली प्रथ संस्करण : 1984
गुलशेर खाँ शानी	नैना कभी न दीठ नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 1993
भीष्म साहनी	तमस राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण : 2009
यशपाल	झूठा-सच लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.) संस्करण : 1987
राही मासूम रजा	आधा गाँव राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण : 1990
राही मासूम रजा	ओस की बूँद राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण : 2004
राही मासूम रजा	टोपी शुक्ला राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, चौथा संस्करण : 2004

नासिरा शर्मा	ज़िन्दा मुहावरे वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण : 2010
अब्दुल बिस्मिल्लाह	झीनी-झीनी बीनी चदरिया राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण : 2008
मंज़ूर एहतेशाम	सूखा बरगद राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 2009
बदी उज्जमां	छाको की वापसी राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण : 1985
(सं.) जानकी प्रसाद शर्मा	भारतीय साहित्य के निर्माता : शानी साहित्य अकादमी, फिरोहशाम मार्ग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2007
(सं.) जानकी प्रसाद शर्मा	शानी : आदमी और अदीब नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1996
नासिरा शर्मा	राष्ट्र और मुसलमान किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण : 2011
(सं.) राजकिशोर	भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1993

जाहिद खान	आजाद हिन्दुस्तान में मुसलमान कॉन्फ्लुएंस इंटरनेशनल, ग्रेटर कैलाश-II, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2009
विश्वनाथ त्रिपाठी	कुछ कहानियाँ कुछ विचार राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1998
नरेन्द्र मोहन	विभाजन की त्रासदी:भारतीय कथादृष्टि भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 2010
ओमप्रकाश सिंह	प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ नमन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1998
गोपाल राय	हिन्दी उपन्यास का इतिहास राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दरियागंज, नई दिल्ली द्वितीय संस्करण : 2010
सुमित सरकार	मॉडर्न इंडिया 1885-1947 मैकमिलन प्रकाशन, इंडिया संस्करण : 2000
डोमिनिक लापिअरे, लेरी कोलींस	फ्रीडम एट मिडनाइट विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., नोएडा (उ.प्र.), संस्करण : 2010

सिडनी ब्रैंडन — वॉइलेंस इन द फैमिली
मैंचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस
ऑक्सफोर्ड रोड, मैंचेस्टर एम-13,
संस्करण : 1976

वी.एस. देश पाण्डेय — विमिन एण्ड द न्यु लॉ
साउथ एशिया बुक्स, कॉलंबिया,
संस्करण : 1984

पत्र-पत्रिकाएँ

- साक्षात्कार (त्रैमासिक) 1974
- समकालीन भारतीय साहित्य, प्रवेशांक जुलाई-सितंबर (1980) में अप्रैल-जून (1991)
- साक्षात्कार, मई-जून, 1996 (शानी विशेषांक)
- हंस, जनवरी, फ़रवरी, मार्च एवं अप्रैल, 1988 अंक
- नवभारत टाइम्स (दैनिक) 30 सितंबर, 1990 एवं 4 नवंबर, 1990